ओ३म्

श्रीस्वामी दर्शनानन्दजी सरस्वती कृत

नवीन व प्राचीन वेदान्त

उर्दू का

भावानुवाद

अनुवादक—

श्रीयुत बुद्धिसागर वर्म्मा

प्रकाशक—

दीवान अवधविहारीलाल वर्म्मा (आर्य्य)

रियासत धमरवां हरदोई ।

प्रथमबार ५००   सन् १९२१ ई०   मूल्य ।)

Printed by C. M. Dayal at the Anglo-Arabic Press,
Mall Road, Luckhow,

ओ३म्

प्रिय पाठक

यह बात सर्वतो भावेन सुस्पष्ट हो चुकी है कि जीवआत्मा सदा दुःख से द्वेष, और सुख की इच्छा करता है, और सुखेच्छा से अहर्निश इतस्ततः भ्रमण करता रहता है जहाँ कहीं थोड़ा सा भी सुख अनुभव करता है वहाँ ही लोट पोट हो जाता है। संसार की चमकदार वस्तुओं ने सत्यता को आच्छादित कर रक्खा है किन्तु जैसे २ पुरुष को सत्यासत्य विवेक (ज्ञान) होता जाता है वैसे २ ही चमकदार प्रलोभनों को परे फेंकता जाता है और शुद्ध स्वर्ण की भाँति देदीप्य मान होता जाता है और तब "समित्पाणिः श्रोत्रियम् ब्रह्मनिष्ठम्" हो कर आनन्द के स्रोत को प्राप्त कर के कृत कृत्य होता है निम्नाङ्कित आख्यायिका इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है।

आचार्य्य यम अपने शिष्य नचिकेता के सत्य सुखस्रोत (ब्रह्म) सम्बंधी प्रश्न के उत्तर में सांसारिक प्रलोभनों की ओर सङ्केत करते हैं "शतायुषः पुत्र पौत्रान् वर्णाष्व बहून् पशून् हस्ति हिरण्य मश्वान्" सैकड़ों पुत्र पौत्र हाथी घोड़े मांगो यही नहीं

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्य लोके सर्वांका मांश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।
इमे रामाः सरथाःतूर्याः नहि इशा लम्भनीया मनुष्यैः ॥

जो बातें मनुष्यों को अलभ्य हैं बड़ी २ सुन्दर अप्सरायें स्वतन्त्रता से मांगो किन्तु यह प्रश्न उपस्थित न करो। नचिकेता ने जिस का अन्तःकरण सत्यासत्य विवेक से पूर्ण और इस बात का विश्वासी था कि—

इह चेद्वेदीदथ सत्य मस्ति न चेदहा वेदीन महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषुं विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकाद् मृता भवन्ति ॥

परमात्मा का साक्षात ही मोक्ष लाभ कराता है आचार्य से सुखस्त्रोत का दिग्दर्शन प्राप्त ही कर लिया ।

सत्यासत्य विवेक, ज्ञान, वेदान्त इन सब शब्दों का भाव एक ही है और यही मार्ग परमानन्द, मोक्ष अथवा अक्षय सुख के प्राप्त का साधन लोक तथा शास्त्र में प्रसिद्ध है किन्तु समय के हेर फेर से इस वेदान्त के माथे निरीश्वर वाद, माया वाद तथा अहम ब्रह्म वाद का अपराध मढ़ कर लोगों ने कर्मकांड तथा रहे सहे ईश्वर विश्वास की इति श्री करदी और स्वयम् ब्रह्म बन कर संसार में पारमार्थिक उन्नति का ह्रास कर दिया जिस का परिणाम द्वैत वाद के महान गुरु योगिराज श्रीकृष्णानन्द के मतानुसार संसार के अधः पतन का कारण हुआ ।

जघन्य गुणवृत्तिस्थाः अधो गच्छन्ति तामसाः

गीतायाम

मुक्ति शास्त्र अथवा परमात्मा के निकट वर्ती होने का उपदेश (उपनिषद) में जीव और ब्रह्म का भेद निरूपण करते हुये वेदान्त के पारङ्गत, आचार्य्यों ने स्पष्ट रूप से कथा किया है कि—

उद्गीत मेतत् परमं तु ब्रह्म तस्मिन् त्रयं सुपतिष्ठाक्षरं च
अत्रान्तरं ब्रह्म विदोविदित्वा लीना ब्रह्मणि तत् परा योनिमुक्ताः

कि जीव, प्रकृति, परमात्मा तीनों अनादियों से ब्रह्मान्वेशण और निध्यासन करके मुक्ति प्राप्त करें । प्राचीन वेदान्ताचार्य

महर्षि व्यास ने जब ब्रह्मान्वेशण रूपी वेदान्त शास्त्र निर्माण किया तो सबसे प्रथम ही प्रार्थना के साथ साथ "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" से सम्बन्ध और प्रयोजन कथन करते हुये इस विषय को प्रत्यक्ष कर दिया। परन्तु आधुनिक वेदान्तियों ने इस खैंचतान में व्यर्थ ही परिश्रम किया यदि उनकी खैंचतान पर भरोसा किया जावे तो वह श्रुतियाँ "तेजोसि तजो मयि धेहि—सहोसि सहो मयि धेहि" जिनमें जीवात्मा के अभ्युदय और निःश्रेयस की याचना परमात्मा से की गई है निरर्थक हो जावेंगी और श्रुतियों के अनादर से नास्तिक-वाद फैल जावेगा केवल यही नहीं वरना संसार की सारी व्यवस्था अस्त व्यस्त हो जावेगी सुतरां यदि जीवात्मा को आनन्द की अभिलाषा है या वीत शोक होना चाहता है तो अपने से भिन्न उस आनन्द और अक्षय सुख के भंडार परमात्मा की ओर दृष्टि डाले तद्यथा—

समाने वृक्षे पुरुषो ऽनीशया शोचति मुह्य मानः जुष्टंयदा
पश्यति ऽन्यमीशमस्य महिमान मिति वीत शोकः।

किं बहुना अमृत रूपी दुग्ध गीता में भी तो इसी को इस प्रकार से स्पष्ट किया है "स ब्रह्म योग युक्तात्मा अक्षय सुख मश्नुते" और यही मार्ग सुखाभिलाषियों के लिये श्रेयस्कर है—

असौ वा आदित्यो देव मधु ! तस्य द्यौरेव तिरश्चीन वंशो ऽन्तरिक्षप पुपो मरीचयः ! छां. प. ३. प. १

अर्थः—निश्चय यह ब्रह्म ही मुक्त जीवों का मधु है ब्रह्मांड

ही टेढ़ा वंश है अन्तरिक्ष ही मधु मक्खिका छत्ता है मनुष्य लोग ही अधिकारी हैं।

श्री परिव्राजक स्वामी दर्शनानन्द जी (पं० कृपाराम शर्मा जिगरान्वी) की प्रबल दार्शनिक योग्यता और अकाट्य युक्तियों से सभ्य संसार भली प्रकार परिचित है पूज्यपाद स्वामी जी ने उर्दू भाषा और फ़ारसी अक्षरों में यह पुस्तक निर्माण की थी जिसके प्रथम खंड में जीव ब्रह्म के गहन और अत्यन्तावश्यक विषय पर भली प्रकार योजना की थी और यथा सम्भव आधुनिक वेदान्तियों के कठिन से कठिन प्रश्नों का उत्तर देते हुये निरीश्वर तथा मायावाद की नीव को खोखला कर दिया है। जिन महानुभावों ने उक्त स्वामी जी के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त किया है उनको भली प्रकार विदित है कि स्वामी जी कैसी सरलता और उत्तमता से कठिन से कठिन प्रश्नों का उत्तर देते और समाधान करते थे यद्यपि स्वामी जी संसार को छोड़ कर निर्वाण को प्राप्त हो गये हैं परन्तु उनके लिखित उपदेशों से जिज्ञासुओं की आत्माओं को अब भी शान्ति प्राप्त होजाती है।

हमारे चिर परिचित और पूज्य तथा आर्य्य धर्म के बहुत पुराने और श्रद्धालु सेवक आर्य्य दीवान मु० अवधबिहारी लाल रियासत थमरवाँ ने इस पुस्तक को उर्दू से देवनागरी अक्षरों में अनुवाद करा कर हिन्दी पढ़ी लिखी जनता का बहुत बड़ा उपकार किया है आर्य्य दीवान जी का उत्साह और उद्योग सराहनीय है। ऐसे ही धनी मानी और धार्मिक पुरुषों से ऐसी त्रुटियों की पूर्ति की आशा की जाती है आर्य्य दीवान वैदिक धर्मियों में एक उच्च कोटि के व्यक्ति

और आदर्श आर्य्य हैं। श्रीयुत बुद्धिसागर वर्मा अनुवादक ने दीवान जी की आज्ञा को शिरोधार्य करके पुस्तक का अनुवाद बहुत सावधानी और योग्यता से किया है भाषा लालित्य के अतिरिक्त वर्मा जी ने स्वामी जी के दिये हुये प्रमाणों की खोज और अशुद्धियों के शोधन और नोटों के यथास्थान लिखने में बहुत बड़ा परिश्रम किया है पुस्तक के क्लिष्ट विषय को देखते हुये वर्मा जी ने इस कार्य्य को सम्पादन करके बहुत बड़ी योग्यता का परिचय दिया है। हमें पूर्ण आशा है कि आगामी में वर्मा जी उच्च कोटि के लेखक होंगे। इत्यलम्

विनीत— ललताप्रसाद वर्मा
उप प्रधान आर्य्य कन्या पाठशाला
आर्य्य समाज, हरदोई।

वक्तव्य

श्री स्वामी दर्शनानन्द जी ने लगभग अपने सभी ग्रन्थ तथा ट्रैक्ट उर्दू ही में लिखे। इसका कारण हिन्दी भाषा की अनभिज्ञता न थी प्रत्युत उन्हें उर्दू लिखने का विशेष अभ्यास था। इसके अतिरिक्त पश्चिम पञ्जाब प्रदेश में उन दिनों उर्दू का विशेष प्रचार था। स्वामी जी का सत्सङ्ग करने वाले कतिपय मनुष्यों द्वारा पता चलता है कि स्वामी जी किसी पुस्तक या ट्रैक्ट को लिखने से पूर्व कभी सोचा नहीं करते थे। जो विचार जिस प्रकार जिस समय मन में उत्पन्न होते थे, उन्हें वे उसी रूप में लेखबद्ध कर डाला करते थे। उनका विशेष ध्यान तर्क तथा धार्मिक सिद्धान्तों ही की ओर रहा करता था। भाषा माधुर्य्य, वाक्य विन्यास तथा ओजप्रसादादि साहित्यगुणों की ओर उनका ध्यान नहीं जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में धर्मप्रचारार्थ यह बातें अनावश्यक थीं। वास्तव में उनका लक्ष्य केवल वैदिक धर्म के पवित्र ज्वलन्त सिद्धान्तों का प्रचुर प्रचार और अभ्युत्थान मात्र ही था। उनका पवित्र तथा शिक्षाप्रद आदर्श जीवन और उनका ग्रन्थ संग्रह ही इस विषय में प्रबल साक्षी है। यही कारण है कि उनके ग्रन्थों में हम प्रायः टूटी फूटी और अरुचिकर भाषा का प्रयोग पाते हैं।

स्वामी दर्शनानन्द जी के बहुत से ग्रन्थों का भाषा अनुवाद होचुका है। इस "नवीन और प्राचीन वेदान्त" नामक पुस्तक का अनुवाद अभी तक नहीं हुआ था। धर्म्मानुरागी, आर्य्यप्रवर, विद्या व्यसनी श्रीयुत आर्य्य दीवान मुं० अवधबिहारी लाल जी बर्म्मा की आज्ञानुसार मैंने यह कार्य्य सम्पादन किया है। नहीं कहसकता कि कहाँ तक मैंने इस कार्य्य में सफलता प्राप्त की है।

मैंने इसबात का ध्यान रखकर कि ग्रन्थ कर्त्ता का वास्तविक भाव न परिवर्तित होने पावे, इसपुस्तक का अनुवाद शब्दार्थानुसार (Literal) ही किया है। कहीं कहीं जहाँ उर्दू अरूचिकर तथा अस्पष्ट थी, वहाँ कुछ शब्दों का किञ्चित हेर फेर करके अनुवाद को रुचिकर तथा स्पष्ट बनाने का भी प्रयत्न किया है। मूल पुस्तक में छापे की बहुत सी अशुद्धियाँ थीं उन्हें भी यथाशक्ति शुद्ध करके लिखा है। उत्तर भाग में ३२ वें प्रश्न का उत्तर उर्दू की पुस्तक में छपने से रहगया है। किन्तु प्रश्न बड़े महत्व का था, अतः मैंने "सत्यार्थप्रकाश" से खोजकर उसका उचित उत्तर भी लिख दिया है। स्वामी जी ने मूल पुस्तक में यथा स्थान आर्य ग्रन्थों के प्रमाण भी उद्धृत किये हैं किन्तु उनका पूरा पता नहीं दिया। मैंने इस न्यूनता के पूर्ण करने का भी प्रयत्न किया है और इस अनुवाद में पाठकों की सुगमता के लिये प्रत्येक प्रमाण का पूरा पूरा पता भी यथा शक्ति खोज कर दे दिया है।

प्रिय पाठक! यदि इस अनुवाद को आप लोग सहर्ष अपनायेंगे और इस से कुछ भी लाभ उठायेंगे तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा। यदि इस अनुवाद में कोई त्रुटि या अशुद्धि रहगई हो, तो सहृदय पाठक मुझे सूचित करने की कृपा करें अनुग्रहीत हूँगा। शमित्योम्।

विनीत—

बुद्धिसागर

हरदोई

(अवध)

नवीन और प्राचीन वेदान्त।

जिन लोगों ने शास्त्रोंका कुछ भी विचार किया है उपनिषदों को पढ़कर देखा है ; अथवा विद्वान महात्माओं का सत्संग किया है ; वे भली प्रकार जानते हैं कि नवीन व प्राचीन वेदान्त की पुस्तकों में कितना भेद है। जहाँ प्राचीन वेदान्त ईश्वरीय ज्ञान और उसकी भक्ति का पूरा प्रचारक है वहाँ नवीन वेदान्त सत्कर्म और ईश्वर भक्ति का पूरा शत्रु। यहाँ तक कि निश्चल दास कृत विचार सागर से ज्ञात होता है कि कलियुगी वेदान्ताचार्य्य ईश्वर को प्रणाम करना भी अपना अपमान समझते हैं। जहाँ व्यास जी ने अपने वेदान्त सूत्रों में ब्रह्म को जगत का कर्ता और संहर्त्ता जाना है, वहाँ नवीन वेदान्तियों ने सर्वथा इसके प्रतिकूल ब्रह्म को सृष्टि कर्त्ता मानने से इनकार किया है। और ब्रह्म के स्थान पर माया से उपहित चेतन को (जिसे वे ईश्वर कहते हैं) जगत का कारण बतलाया है। जहाँ वेदान्त शास्त्र के प्राचीन आचार्य्यों ने वेदादि शास्त्रों का पठन और साधन षट सम्पत्ति आदि को मुक्ति के वास्ते आवश्यक बतलाया है वहाँ आधुनिक मिथ्या वादी वेदान्तियों ने इन सब साधनों को भङ्ग की तरंग में बहा दिया है। उन्हें धर्माधर्म से कोई काम नहीं। कोई विवर्त वाद के गहरे गढ़े में गिर कर यह चिल्ला रहा है कि यह जगत उत्पन्न ही नहीं हुआ ; परञ्च रज्जु सर्पवत् केवल भ्रम होरहा है। ब्रह्म जगत् का विवर्त्त उपादान है।

यदि इन विवर्त्त वादियों और व्यास जी के विचारों का परस्पर मिलान किया जाय तो आकाश पाताल का भेद प्रतीत होता है। क्योंकि वेदान्त शास्त्र के पहिले ही सूत्र में व्यास जी ने लिखा है :—

अथातो ब्रह्म जिज्ञासा ॥ १ ॥

(अर्थ) प्रमाणादि अनुसन्धान के साधन और धर्मादि के जानने पश्चात् ब्रह्म के जानने की इच्छा करते हैं। बहुत से महाशय कहेंगे कि यहाँ और प्रमाण धर्म आदि शब्द तो विद्यमान नहीं है। तो इसका उत्तर यह है कि अथ शब्द का 'अर्थ' है इसके पश्चात्। अर्थात् इसके पश्चात् ब्रह्म के जानने की इच्छा करते हैं वेदान्त दर्शन उत्तर मीमांसा और दर्शन पूर्व मीमांसा कहलाती है। अतः मीमांसा दर्शन द्वारा धर्म का ज्ञान हो चुका है। अब धर्म ज्ञान के पश्चात् ब्रह्म को जानने की इच्छा करते हैं। यह इस सूत्र का अर्थ हुआ। अब प्रश्न यह उत्पन्न हुआ कि ब्रह्म है क्या वस्तु? इसके उत्तर में व्यास जी ने कहा:—

जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥

शरीरिक सूत्र अ० १। पा० १। सू० २।

(अर्थ) जिससे इस सृष्टि की उत्पत्ति, पालन, और विनाश होता है।

अब सृष्टि कर्तृत्व ब्रह्म का स्वरूप पक्ष में गुण गिना जाता है कार्य्य नहीं। सृष्टि की उत्पत्ति और पालन ब्रह्म का कार्य्य है; उसका गुण नहीं। अतएव और लक्षण की आवश्यकता शेष रही। जिसके वास्ते कहा :—

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

वेदान्त० अ० १ पा० १ सूत्र ३ ॥

(अर्थ) वेदादि सत्य शास्त्रों का कर्त्ता होना भी ब्रह्म का लक्षण है, क्योंकि अल्पज्ञ जीव वेद जैसे पूर्ण शास्त्र को, जिसके प्रत्येक शब्द में फ़िलास्फ़ी टपकती है, जिसमें व्यक्ति गत गल्प तथा गाथाओं का वर्णन नहीं, प्रत्युत सर्वप्रकार की विद्याओं का उल्लेख है: नहीं बना सकता। मनुष्य का सारा प्रयत्न इसके करने में असमर्थ ज्ञात होता है कि वह गुरु से शिक्षा प्राप्त किये बिना किसी विद्यापरक सिद्धान्त को पूर्ण रूपसे सिद्धि करसके। दूसरे इस सूत्र से यह भी पता लग गया कि वेद ही ब्रह्म को बतला सकता है। जैसे मनुष्य को सूर्य्य की किरणों द्वारा ही सूर्य्य के अस्तित्व का ज्ञान होता है, इसी प्रकार परमात्मा का ज्ञान भी उसी के दिये हुये उपदेश वेद द्वारा ही होसकता है। जिस पर ऋषियों के व्याख्यानों से इस बात का पूरा २ पता मिलता है।

जब हम उपनिषदों में जो वेदों के व्याख्यान और वेदान्त शास्त्र के नामसे विख्यात हैं, इस बात की खोज करते हैं कि ब्रह्म का लक्षण क्या है, तो यह पता मिलता है:—

सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म ॥

(अर्थ) ब्रह्म सत्य है अर्थात् त्रिकाल में रहने वाला है, जिसे नैय्यायिक परिभाषा में "सत्" कहते हैं। अब प्रश्न यह उत्पन्न हुआ कि त्रिकाल में रहने वाला कैसे जाना जा सकता है? तो इसका उत्तर यह है कि जो जन्य है, वह अनित्य है अर्थात् वह सत् नहीं। क्योंकि उत्पन्न होने से प्रथम उसका अस्तित्व न था। अतः जन्म होने की दशामें भूतकाल में न रहने से वह त्रिकाल में रहने वाला न रहा। इससे वह सत् नहीं। अतः जो वस्तु जन्य न हो, वह सत् कहलाती है और जो जन्य है वह असत् कहलाती है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न हुआ कि यह कैसे मालूम हो कि अमुक वस्तु जन्य है अथवा अजन्य। इसका उत्तर यह है:— कि जो वस्तु अपनी दशा बदलती है, कभी बढ़ती है, कभी घटती है, वह जन्य है। दूसरे जो वस्तु संयोग से बनी और परिमित है, वह भी जन्य है फिर प्रश्न हुआ कि वह कौन सी युक्ति है, जिससे परिवर्तनशील और संयोग से बने हुये पदार्थों को जन्य मानलें? इसका उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष में प्रत्येक जन्य वस्तु में परिवर्तन होते देखते हैं; उनकी आकृति नित्यप्रति कुछ न कुछ बदलती रहती है। जिनके कारण का भी विचारने से ज्ञान होजाता है। और जो पदार्थ अपने अस्तित्व में कारणों के आधीन हैं वे किसी प्रकार अनादि नहीं होसकते और न ही संयोग से उत्पन्न हुआ पदार्थ उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान होता है। जैसे घट कुम्भकार के बनाने से प्रथम विद्यमान न था। अब फिर प्रश्न यह उत्पन्न हुआ कि क्या अकेला ब्रह्म ही सत् है अथवा कोई अन्य पदार्थ भी है जो जन्य नहीं। उपनिषद में लक्षण को सत् से आगे बढ़ाने से ज्ञात होता है कि और पदार्थ भी ऐसे होंगे कि जो जन्य नहीं। क्योंकि एक ब्रह्म ही के सत् होने से ब्रह्म का लक्षण केवल सत् कहदेना पर्य्याप्त था। लक्षण करने का तात्पर्य्य यह होता है कि उसके द्वारा अन्य वस्तु को अन्य वस्तु से अलग जान लिया जाय। जब ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरा सत् नहीं तो प्रयोजन इतने ही से पूरा होजाता है कि ब्रह्म सत् है।

जब उपनिषदों से इस बात की खोज की जाती है कि अजन्य पदार्थ कितने हैं, तो श्वेताश्वतर की एक श्रुति से इसका स्पष्ट पता लग जाता है। श्रुति यह है:—

अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः। अजोह्येको जुषमाणो ऽनुशेते जहात्येनां भुक्त भोगामजो ऽन्यः॥

श्वेताश्वतर उ० अ० ४। मं० ५

(अर्थ) "एक अजन्य पदार्थ है, जिसमें लोहित (रजोगुण) शुक्ल (सतोगुण) और कृष्ण (तमोगुण) पाये जाते हैं। और वह जगत् का स्वरूप से कारण अर्थात् उपादान कारण है और उससे यह नाना प्रकार की संयोगज और साकार वस्तुयें प्रादुर्भूत हुई हैं। इसके अतिरिक्त एक और "सत्" है, जो इसके भीतर रहकर इसके फलों को भोगता है। इन दो "सत्" सत्ताओं के अतिरिक्त एक तीसरा "सत्" और है, जो उसमें रहने पर भी उसके फलों को नहीं भोगता।"

इस श्रुति से पता लगा कि "सत्" तीन हैं। एक तो त्रिगुणात्मक "प्रकृति" है। दूसरा प्रकृति में रहकर उसके फलों का भोक्ता 'जीव' है। और तीसरा प्रकृति में व्याप्त और उसके भोगों से अलग रहनेवाला "ब्रह्म" है। जब इस श्रुति से पता लग गया कि सत् तीन हैं, तो लक्षण यह हुआ कि ब्रह्म सत्य और ज्ञानवाला है। ब्रह्म को चेतन अर्थात् ज्ञानवाला कहने से प्रकृति तो अलग होगई, किन्तु जीव जो सत् और ज्ञानवाला भी है साथ रहा। इससे ब्रह्म का लक्षण पूरा न हुआ। अतः अन्त में कहा कि ब्रह्म आनन्दवाला है जो प्रकृति और जीव दोनों में न था। अतः ब्रह्म का स्वरूप लक्षण सच्चिदानन्द हुआ।

प्राचीन वेदान्त में जहाँ ब्रह्म को सच्चिदानन्द और जीव को सच्चित् एवं प्रकृति को सत् माना था, वहाँ नवीन वेदान्तियों

ने उसे उड़ाकर ब्रह्म का यह लक्षण किया कि वह सजाती, विजाती और स्वगत भेद शून्य है। जिस जीव और प्रकृति के अस्तित्व को उपनिषद् में सत् बतलाया था, उसे किसी ने तो जन्य अर्थात् असत् बना दिया, और किसी ने उसके अस्तित्व को भ्रम ठहराकर उपनिषदों को झूठा ठहरा दिया। इस वेद विरुद्ध मत में चलते हुये भी उन्हों ने अपने आपको वेदान्ती कहलाना उचित रक्खा भला, व्यास जी तो वेदों को ईश्वरीय उपदेश बतलायें, और यह नवीन वेदान्ती भ्रमजाल में पड़ कर वेदोक्त बातों को मिथ्या करने का प्रयत्न करते हुये, उनके प्रतिकूल सिद्धान्त संसार में फैलायें। आधुनिक नवीन वेदान्तियों को जो वास्तव में मायावादी हैं, वेदान्ती कहना ऐसा है, जैसा कि जङ्गी का नाम काफूर कहना, अथवा पंजाबियों की भाँति नाइ को राजा बतलाना। इनको मायावादी कहना हमारी कल्पना नहीं है। प्रत्युत विज्ञानभिक्षु ने जो सांख्य दर्शन की भूमिका में प्रमाण लिखे हैं, उनसे स्पष्ट है कि यह लोग मायावादी हैं, वेदान्ती नहीं। देखो सांख्य दर्शन की भूमिका, सांख्य प्रवचन भाष्य, छापा काशी व कलकत्ता:—

श्रृणु देवि! प्रवक्ष्यामि तामसानि यथाक्रमम्।
येषां श्रवणमात्रेण पातित्यं ज्ञानिनामपि॥

पद्मपुराण उत्तर-खण्ड अ० २६३।

(अर्थ) महादेव जी पार्वती जी से कहते हैं कि हे देवि! ध्यान से सुनो। मैं उन बातों को बताऊँगा, जो तमोगुण के कारण संसार में फैली हैं और जिन मतों के श्रवण मात्र से ही ज्ञानी मनुष्यों की बुद्धि भी कलुषित होजाती है।

अब वह अगले श्लोकों में उन मतों को गिनाते हैं, जिनमें से हम केवल मायावाद के सम्बन्ध में ही वर्णन करते हैं:—

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च
मयैव कथितं देवि! कलौ ब्राह्मण रूपिणा।
पद्मपुराण उत्तर ख० अ० २६३। श्लो० ७०

(अर्थ) मायावाद अर्थात् नवीन वेदान्त जो सर्वथा असत्य है और गुप्त रूप से बौद्ध शास्त्र अर्थात् नास्तिक है, उसको कलियुग में शङ्कराचार्य्य नामक ब्राह्मण रूप में मैंने ही वर्णन किया है। इन शब्दों से पता चलता है कि नवीन वेदान्त और नास्तिक बौद्ध मत में कुछ अधिक भेद नहीं क्योंकि बौद्ध लोग ब्रह्म को जगत का कर्त्ता नहीं मानते और नवीन वेदान्ती भी जीव का मुक्ति पाकर ब्रह्म में लय होजाना बतलाते हैं। इसी प्रकार यदि नास्तिकों और नवीन वेदान्तियों का मिलान किया जाय तो दोनों के सिद्धान्तों में बहुत ही कम भेद प्रतीत होगा। केवल नास्तिक लोग वेद को नहीं मानते और यह नवीन वेदान्ती मुख से तो वेद का प्रमाण मानते हैं, किन्तु अर्थों को सर्वथा बिगाड़ कर वैदिक कर्मकाण्ड का पूर्णरूपेण विनाश करना चाहते हैं। जितने वेद की श्रुतियों के उलटे अर्थ इन नवीन वेदान्तियों ने किये हैं और उससे जितनी शास्त्रों की शिक्षा को हानि पहुँचती है, उसका पता उन्हीं विचार शील पुरुषों को लग सकता है जो उनकी पुस्तकों तथा अन्य शास्त्रों का मिलान करके देखते हैं और उनकी थाह तक पहुँचने की योग्यता रखते हैं। सर्व साधारण मूर्ख लोग तो इन मायावादियों को वेद शास्त्रों का माननेवाला समझते हैं। बहुत

से महाशय कहेंगे कि तुम्हारे पास क्या प्रमाण है कि वेदान्ती लोगों ने अर्थ बदला है। क्योंकि लोग तो यह कहते हैं कि आर्य्यों ने अर्थ बदले। इसके उत्तर में हम उसी सांख्य भूमिका से प्रमाण देते हैं, कि मायावादियों ने श्रुति के अर्थ उलटे किये हैं:—

अपार्थं श्रुति वाक्यानां, दर्शयंल्लोक गर्हितम्।
कर्मस्वरूप त्याज्यत्वमत्र च * प्रतिपाद्यते॥

पद्मपुराण अ० २६३। श्लो० ७१।

(अर्थ) श्रुति के वाक्यों के प्रतिकूल अर्थ करके और उन्हें उलटी युक्तियों से सिद्ध करके दिखलाया है, और इसका तात्पर्य्य केवल जगत् को नाश करना है। हमारे बहुत से नवीन वेदान्ती मित्र यह कहेंगे कि तुम्हारे पास क्या प्रमाण है, कि मायावाद से तात्पर्य वेदान्तियों से है, जब तक तुम इस बात को सिद्ध न करदो कि मायावादी इन्हीं वेदान्तियों का नाम है। इसके उत्तर में हम उस स्थान के और भी श्लोक उद्धृत करते हैं, जिससे मायावाद और नवीन वेदान्त का एक होना सिद्ध होता है।

ब्राह्मणोऽस्य परं रूपं, निर्गुणं दर्शितं मया।
सर्वस्य जगतो ऽप्यस्य, नाशनार्थं ⊛ कलौयुगे॥

पद्मपुराण अ० २६३। श्लो० ७२।

(अर्थ) इस मायावाद में मैंने ब्रह्म को निर्गुण अर्थात् सृष्टि कर्त्ता आदि गुणों से शून्य बतलाया है और कर्म को सर्वथा

---

* "अत्र वै प्रतिपाद्यते" इति पाठ भेदः।
⊛ "मोहनार्थं कलौयुगे" इति पाठ भेदः।

छोड़ देने का उपदेश किया है और यह बतलाया है कि समस्त कर्म्मों को त्यागे विना मुक्ति, नहीं होती । इससे स्पष्ट है कि मायावादी और नवीन वेदान्ती दोनों एक ही हैं और उनका सारा मत सर्वथा वेदशास्त्र के प्रतिकूल है । और इन लोगों ने जो और शास्त्रों के साथ २ श्रुति का व्याख्यान किया है, वह सर्वतोभावेन धोकेबाज़ी है । नहीं तो श्रुति अर्थात् उपनिषदों और वेदमन्त्रों में ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं मिलता, जिससे जीव का जन्म होना सिद्धि होसके ।

अब हम नवीन वेदान्त के प्रतिकूल वेद होने में उसी सांख्य भूमिका में से एक और प्रमाण देते हैं :—

वेदार्थवन्महा शास्त्रं, माया वादमवैदिकम् ।
मयैव *कथितं देवि, जगतां नाश कारणात् ॥

पद्मपु० अ० २६३ । श्लो० ७५ ।

(अर्थ) यह मायावाद वेदार्थ की भाँति बहुत बड़ा शास्त्र है । किन्तु वास्तव में यह सर्वथा अवैदिक है । क्योंकि इसके समस्त सिद्धान्त वेद के प्रतिकूल हैं और इसे मैंने जगत के नाशनार्थ बनाया है ।

---

* "रच्यते" इति च पाठभेदः ॥

(नोट) मायावादमसच्छास्त्रं" इत्यादि ५ श्लोक स्वामी दर्शनानन्द जी ने विज्ञानभिक्षु कृत सांख्य दर्शन की भूमिका (सांख्य प्रवचन भाष्य छापा काशी व कलकत्ता) से उद्धृत किये हैं । वास्तव में ये श्लोक पद्मपुराण के कर्त्ता ने उत्तर खण्ड अध्याय २६३ में इस मायावादी मत के खण्डन में लिखे हैं । पद्मपुराण में इन श्लोकों में कहीं २ कुछ पाठ भेद है, सो भी यहाँ यथास्थान दिखा दिया गया है । परन्तु इस पाठ भेद से वास्तविक भावार्थ में कोई भेद नहीं आता ।

अनुवादक

इन प्रमाणों से यह सिद्धि होगया कि यह मायावादी नास्तिक, जो अपने आप को वेदान्ती कहते हैं, सर्वथा वेदों के प्रतिकूल चलने वाले हैं। और उनका अद्वैत सिद्धान्त नितान्त असङ्गत है। उनके विवर्तवादादि जितने पेंचदार प्रपञ्च हैं, वह सर्वसाधारण को धोखे में डालने वाले हैं। अतः ब्रह्म को सजाति और स्वगत भेद शून्य कहना तो ठीक है किन्तु विजाति भेद से नकार करना सर्वतोभावेन उपनिषदों के प्रतिकूल है, और वेदमन्त्रों के विरुद्ध होने से नास्तिकता का प्रमाण है। जहाँ जीव को सत् और चित् प्राचीन वेदान्त ने बतलाया है, वहाँ नवीन वेदान्तियो ने उसको चिदाभास के नाम से प्रसिद्ध किया है। चिदाभास की परिभाषा यह है कि बुद्धि में जो परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है वह जीव है। और बहुतों ने अविद्या से ढँपे हुये चेतन को जीव बतलाया है। जहाँ तक हम इन दोनों लक्षणों का विचार करते हैं, तो नवीन वेदान्तियों के इस लक्षण को सर्वथा मिथ्या पाते हैं। क्योंकि इसमें कई प्रकार की शंकायें उत्पन्न होती हैं।

पहली शङ्का तो यह होती है कि जिस बुद्धि में चेतन परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़कर जीव कहलाता है, वह बुद्धि सत् है या असत्? दूसरे चेतन है या अचेतन, और तीसरे गुण है या द्रव्य? अब यदि बुद्धि को सत् माना जावे, तो आगे यह प्रश्न उठता है कि वह ब्रह्म से परे है अथवा ब्रह्म ही है? यदि ब्रह्म से परे अन्य पदार्थ बुद्धि को सत् मान लिया तो द्वैत सिद्धि होगया और नवीन वेदान्तियों के धर्म का मूलच्छेद होगया। और यदि बुद्धि को ब्रह्म ही मानो तो उसी में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ना सम्भव नहीं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का प्रतिबिम्ब उस वस्तु से परे दूसरे स्थान पर रह सकता है। अर्थात्

साकार पदार्थ और उसका प्रतिविम्ब दोनों एक ही स्थान पर नहीं रह सकते। और बुद्धि को यदि ब्रह्म से परे चेतन माना जाय तो इव जीव का दूसरा नाम होगा यदि अचेतन माना जाय तो वह (बुद्धि) प्रकृति के अन्तर्गत होगी, क्योंकि ब्रह्म चेतन से जड़ बुद्धि की उत्पत्ति असम्भव है, क्योंकि कारण और कार्य्य के गुणों में समानता होनी चाहिये। उष्ण औषधि से शीत प्रभाव किसी भाँति उत्पन्न नहीं हो सकता, अथवा अग्नि से शीत और जल से उष्णता की उत्पत्ति मानना नितान्त बुद्धिमत्ता के प्रतिकूल है। अब बुद्धि को द्रव्य मानने से तो अद्वैत सिद्धान्त का खण्डन हो जायगा। और यदि गुण मानो तो उसके गुणी की आवश्यकता होगी और किसी गुण में प्रतिविम्ब का (जो स्वयं गुण है) अस्तित्व असम्भव है। अतएव बुद्धि में चेतन के प्रतिविम्ब को जीव कहना सर्वथा मिथ्या है।

दूसरी शङ्का यह होती है कि प्रतिविम्ब सान्त पदार्थ का सान्त पदार्थ में पड़ा करता है, अनन्त ब्रह्म तो प्रत्येक पदार्थ में स्वयं विद्यमान है, उसका प्रतिविम्ब किस प्रकार पड़ सकता है। इसका संसार में कोई उदाहरण दृष्टिगोचर नहीं होता कि जिस स्थान पर कोई वस्तु हो उसही स्थान पर उसका प्रतिविम्ब भी हो। परन्तु यह बात प्रत्यक्ष प्रतीत होती है कि प्रतिविम्ब उस स्थान को छोड़ कर रहता है। अतएव जो लोग चिदाभास अर्थात् ब्रह्म के प्रतिविम्ब को, जो बुद्धि में पड़ता है, है, जीव कहते हैं, वह बड़ी भूल करते हैं। जीव का जो लक्षण महात्मा गौतम और कपिल आदि ऋषियों ने किया है, वही ठीक है। और जो लोग अविद्या से ढँपे हुये ब्रह्म को जीव कहते हैं, वह भी भूलते हैं। क्योंकि पहले तो यह शङ्का उत्पन्न होती है कि अविद्या कोई वस्तु है अथवा नहीं? यदि अविद्या

को कोई वस्तु विशेष मानोगे, तो ब्रह्म से परे दूसरी वस्तु माननी पड़ेगी, जिससे अद्वैत के सिद्धान्त की इतिश्री हो जायगी। और यदि अविद्या को कोई वस्तु न मानोगे, उससे ब्रह्म का ढँप जाना असम्भव है। बहुत से वेदान्ती अविद्या को ब्रह्म के एक देश में रहनेवाली मानते हैं, जो सर्वथा वेदों के प्रतिकूल है, और बुद्धि के भी विरुद्ध है। क्योंकि वेदों में लिखा है कि ब्रह्म अज्ञान और अन्धकार से परे हैं, और अविद्या का अर्थ ही अज्ञान या उलटे ज्ञान के हैं। देखो वेद मन्त्रः—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्य वर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते ऽयनाये ॥
यजुर्वेद अ० ३१ मंत्र १८।

(अर्थ) मैं उस सारे जगत में व्यापक परमात्मा को जानूँ, जो सूर्य्य की भाँति प्रत्येक वस्तु को प्रकाशित करनेवाला अर्थात् स्वतः प्रकाश है और जिसमें अज्ञान का तनिक भी लेशमात्र नहीं। उसी एक परमात्मा के जानने से अतिमृत्यु अर्थात् मुक्ति प्राप्त होती है। उसके ज्ञान के अतिरिक्त मुक्ति के वास्ते कोई दूसरा द्वार नहीं। जब कि परमात्मा अज्ञान के अन्धकार से परे है तो उनके एक देश में अविद्या को स्थिर करना नितान्त मूर्खता और नास्तिकता है।

कतिपय मनुष्यों को स्वतः प्रकाश और परतः प्रकाश अर्थात् स्वयमेव प्रकाशित होने वाली या अन्य की सहायता से प्रकाशित होने वाली वस्तु की खोज होगी। अतएव हम भी इस बात पर विवाद करना चाहते हैं कि स्वतः प्रकाश किसे कहते हैं, और यह लक्षण किस वस्तु में घट सकता है।

स्वतः प्रकाश वह है जो अपने प्रकाश के वास्ते दूसरे प्रकाश के आधीन न हो और साथ ही दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित भी करे। अब पहले कहा कि दीपक का प्रकाश अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है, किन्तु सूर्य्य के बिना कभी दीपक उत्पन्न नहीं होसकता। अतएव दीपक का अस्तित्व सूर्य्य के आश्रय पर है। अतः दीपक किसी भाँति भी स्वतः प्रकाश नहीं होसकता। अब सूर्य्य को प्रकाश माना। परन्तु सूर्य्य की विद्यमानता में भी नेत्रों के बिना कोई वस्तु दिखाई नहीं देती। अतएव मनुष्य के लिये नेत्र ही स्वतः प्रकाश है किन्तु नेत्र भी मन की सहायता बिना किसी वस्तु को मालूम नहीं करसकता। अतः मन को भी स्वतः प्रकाश मानना पड़ा। किन्तु मन भी आत्मा की सहायता के बिना कुछ नहीं करसकता, और दीपक सूर्य्यादि की सहायता बिना काम नहीं करसकता। दीपक सूर्य्यादि जिन वस्तुओं के संयोग से उत्पन्न होते हैं, उनके उनके परमाणुओं को अधिकृत करने के लिये मनुष्य का प्रयत्न किसी भाँति सफल नहीं होसकता। अतएव जिस शक्ति के कारण पञ्चभूतों के संयोग से यह संसार और सूर्य्यादि लोक बने हैं और जिसके आधीन सूक्ष्म होने के कारण यह समस्त पदार्थ प्रत्येक समय नियमानुसार घूमा करते हैं, उसको स्वतः प्रकाश कहसकते हैं। उसके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु अपने काम में दूसरों की सहायता के आश्रित दृष्टिगत होती है। अतः एक परमात्मा के लिये स्वतः प्रकाश का शब्द उचित है। बहुत से महाशय प्रश्न करेंगे कि जब जीव और प्रकृति अनादि मानते हो तो उनको भी स्वतः प्रकाश क्यों मानते। इसका उत्तर यह है कि यह दोनों स्थूल होने के कारण तथा ईश्वर की अपेक्षा परिमित होने के कारण उसके अधिकार में हैं। इनके प्रत्येक कार्य्य में ईश्वर कृत पदार्थों और

स्वयं ईश्वर की सहायता की आवश्यकता है। जब तक परमात्मा सहायता न करे तबतक प्रकृत के परमाणुओं में सञ्चालन नहीं होसकता और जब तक सञ्चालन न हो तब तक उनमें संयोग वियोग नहीं, और जब तक संयोग वियोग न हो तब तक यह जगत उत्पन्न नहीं होसकता।

प्राचीन वेदान्त के मानने वाले तो जीव ब्रह्म और प्रकृति को नित्य ही मानते हैं जिसका उल्लेख श्रुति में बहुत स्थानों पर आया है। उनके विचार में ब्रह्म जगत् का कर्ता है और प्रकृति जगत् का उपादान कारण है अर्थात् उसी के विकारों से यह नाना प्रकार का जगत् बनता है। किन्तु नवीन वेदान्ती लोग ब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमित्त-उपादान कारण मानते हैं। यह बात सर्वथा बुद्धि के प्रतिकूल है, इसके लिये जगत् में कोई दृष्टान्त दिखाई नहीं देता। यद्यपि लोग कह सकते हैं कि जिन बातों को वेद बतलाये, उनमें बुद्धि भिड़ाना योग्य नहीं। परन्तु यह बात नितान्त शास्त्र विरुद्ध है, क्योंकि याज्ञवल्क्य ऋषि ने अपनी स्त्री मैत्रेयी को बृहदारण्यकोपनिषद् में उपदेश किया है:—

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति ॥ १ ॥

(अर्थ) हे मैत्रेयी! पति के लिये पति से प्यार नहीं किया जाता परन्तु अपने स्वार्थ वश पति से प्यार करते हैं। क्योंकि प्राणीमात्र अपने दुखों से छूटने का प्रबन्ध और सुख प्राप्त करने की इच्छा करता है। जिसकी इच्छा की जाती है उसको सुख का साधन समझ लिया जाता है, तब इच्छा की जाती है। और जब तक किसी को सुख का साधन न समझ लिया जाय

तब तक उसकी इच्छा हो नहीं सकती। इसकी व्याख्या आगे के वाक्यों में स्वयं महात्मा याज्ञवल्क्य जी ने की है। देखो बृहदारण्यकोपनिषद् छापा भारत जीवन बनारस की छपी हुई ईशादि दश उपनिषद् संग्रह पृ० २४६ :—

न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति ॥ २ ॥

(अर्थ) हे मैत्रेयि! स्त्री के अर्थ स्त्री को प्यारा नहीं समझते, किन्तु अपने स्वार्थ वश स्त्री को प्यारा समझते हैं। क्योंकि लोग स्त्री को एक भारी सुख का साधन समझते हैं।

न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवंत्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति ॥ ३ ॥

(अर्थ) हे मैत्रेयि! पुत्रों के अर्थ पुत्रों से प्यार नहीं किया जाता, परन्तु अपने स्वार्थ के लिये पुत्रों से स्नेह किया जाता है।

परिणाम यह कि प्रत्येक सम्बन्धी से जो स्नेह किया जाता है वह सब अपने स्वार्थ के लिये ही होता है। जिसे अपना समझा जाता है उसी के सुख दुख की ओर विशेष प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है। संसार में कोई भी सम्बन्धी ऐसा नहीं, जिसके निमित्त आत्मा से अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता हो।

यहाँ तक सांसारिक सम्बन्धों का वास्तविक स्वार्थ

बतला कर अब सांसारिक धन और सम्पत्ति को बतलाते हैं:—

न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति ॥ ४ ॥

(अर्थ) हे मैत्रेयि! धन के अर्थ सम्पति को कोई प्यारा नहीं समझता, परन्तु स्वार्थवश सम्पति को प्यारा समझते हैं, क्योंकि प्राणीमात्र के साथ यह विचार लगा हुआ है कि यह सम्पति मेरे सुख का हेतु है, और इससे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति देख कर ही लोग इससे स्नेह करते हैं। नहीं तो सम्पति से प्यार का यहाँ और कोई अभिप्राय नहीं है। यही कारण है कि बालक और स्वच्छन्द व्यक्ति को धन सम्पति का ममत्व नहीं होता। नीतिकार ने भी कहा है:—

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥

चाणक्य नीति।

(अर्थ) कष्ट से बचने के लिये धन की रक्षा करनी चाहिये। किन्तु जिस समय अपनी स्त्री पर आपत्ति का समय हो तो स्त्री को धन की अपेक्षा प्यारा समझ कर धन की परवाह न करके स्त्री की रक्षा करनी चाहिये। और आत्मा के वास्ते स्त्री और धन सम्पति दोनों का विचार छोड़ देना चाहिये। कतिपय महाशयों को यहाँ पर यह शंका उत्पन्न होगी कि आत्मा तो असङ्ग है, उस पर क्या कष्ट आ सकता है? इसका उत्तर यह है कि आत्मा का धर्म ज्ञान है। ज्ञान की ग्लानि और अधर्म के अभ्युत्थान से आत्मा को बड़ी भारी हानि पहुँचती है।

अब वह अगले श्लोकों में उन मतों को गिनाते हैं, जिनमें से हम केवल मायावाद के सम्बन्ध में ही वर्णन करते हैं:—

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च
मयैव कथितं देवि! कलौ ब्राह्मण रूपिणा।

पद्मपुराण उतर ख० अ० २६२। श्लो० ७०

(अर्थ) मायावाद अर्थात् नवीन वेदान्त जो सर्वथा असत्य है और गुप्त रूप से बौद्ध शास्त्र अर्थात् नास्तिक है, उसको कलियुग में शङ्कराचार्य्य नामक ब्राह्मण रूप में मैंने ही वर्णन किया है। इन शब्दों से पता चलता है कि नवीन वेदान्त और नास्तिक बौद्ध मत में कुछ अधिक भेद नहीं क्योंकि बौद्ध लोग ब्रह्म को जगत का कर्त्ता नहीं मानते और नवीन वेदान्ती भी जीव का मुक्ति पाकर ब्रह्म में लय होजाना बतलाते हैं। इसी प्रकार यदि नास्तिकों और नवीन वेदान्तियों का मिलान किया जाय तो दोनों के सिद्धान्तों में बहुत ही कम भेद प्रतीत होगा। केवल नास्तिक लोग वेद को नहीं मानते और यह नवीन वेदान्ती मुख से तो वेद का प्रमाण मानते हैं, किन्तु अर्थों को सर्वथा बिगाड़ कर वैदिक कर्मकाण्ड का पूर्णरूपेण विनाश करना चाहते हैं। जितने वेद की श्रुतियों के उलटे अर्थ इन नवीन वेदान्तियों ने किये हैं और उससे जितनी शास्त्रों की शिक्षा को हानि पहुँचती है, उसका पता उन्हीं विचार शील पुरुषों को लग सकता है जो उनकी पुस्तकों तथा अन्य शास्त्रों का मिलान करके देखते हैं और उनकी थाह तक पहुँचने की योग्यता रखते हैं। सर्व साधारण मूर्ख लोग तो इन मायावादियों को वेद शास्त्रों का माननेवाला समझते हैं। पहुत

विचार से ही राज्यकी इच्छा की जाती है। नहीं तो राज्य से मनुष्य का प्रेम करने का कोई प्रयोजन नहीं। इसके आगे और दिखलाते हैं।

न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति ॥ ७ ॥

(अर्थ) हे मैत्रेयि ! संसार के मनुष्यों के अर्थ संसार को प्यार नहीं करते वरञ्च अपने कामों को संसार की सहायता बिना पूरा होता न देखकर संसार को प्यार करते हैं, क्योंकि इस बात को प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि मनुष्य अपने कार्यों के सम्पादन में सर्वथा दूसरे की सहायता के आधीन है। प्रत्येक उद्यमशील व्यक्ति के वास्ते दूसरों की बनी हुई वस्तु की आवश्यकता है। और जब तक दूसरे साधन विद्यमान न हों कोई भी मनुष्य अपना काम चला नहीं सकता। इसका चित्र परमात्मा ने मनुष्य मात्र के शरीर में एक अङ्ग को अपने कार्यों में दूसरे अङ्ग की सहायता के आधीन बनाकर उचित रीति पर दिखला दिया है कि जब तक अङ्ग प्रत्यङ्ग पारस्परिक सहायता न करें, तब तक समस्त अङ्गों का अस्तित्व सर्वथा निरर्थक प्रतीत होता है। अतएव जो लोग किसी कार्य्य सम्पादनार्थ प्रयत्न करते हैं, वह वास्तव में अपनी आत्मा के अर्थ ही प्रयत्न करते हैं। यह दूसरी बात है कि वह अविद्या के कारण इस बात को नहीं जानते कि उनकी आत्मा को किस वस्तु से लाभ और किस से हानि पहुँचती है। जो जिस पदार्थ को अपनी आत्मा के लिये लाभदायक समझता है वह उसी को प्राप्त करने में रात दिन लगा रहता है। और जो लोग आधुनिक समय में संसार के माया मोह में फँसकर उसके दास हो रहे हैं, उन्हें संसार को लाभ पहुँचाने से प्रयोजन नहीं, वरञ्च अपने ही लाभ की इच्छा है। और जो धर्म

छोड़ देने का उपदेश किया है और यह बतलाया है कि समस्त कर्म्मों को त्यागे बिना मुक्ति, नहीं होती । इससे स्पष्ट है कि मायावादी और नवीन वेदान्ती दोनों एक ही हैं और उनका सारा मत सर्वथा वेदशास्त्र के प्रतिकूल है । और इन लोगों ने जो और शास्त्रों के साथ २ श्रुति का व्याख्यान किया है, वह सर्वतोभावेन धोकेबाज़ी है । नहीं तो श्रुति अर्थात् उपनिषदों और वेदमन्त्रों में ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं मिलता, जिससे जीव का जन्म होना सिद्धि होसके ।

अब हम नवीन वेदान्त के प्रतिकूल वेद होने में उसी सांख्य भूमिका में से एक और प्रमाण देते हैं :—

वेदार्थवन्महा शास्त्रं, माया वादमवैदिकम् ।
मयैव *कथितं देवि, जगतां नाश कारणात् ॥

पद्मपु० अ० २६३ । श्लो० ७५ ।

(अर्थ) यह मायावाद वेदार्थ की भाँति बहुत बड़ा शास्त्र है । किन्तु वास्तव में यह सर्वथा अवैदिक है । क्योंकि इसके समस्त सिद्धान्त वेद के प्रतिकूल हैं और इसे मैंने जगत के नाशनार्थ बनाया है ।

---

* "रच्यते" इति च पाठभेदः ॥

(नोट) मायावादमसच्छास्त्रं" इत्यादि ६ श्लोक स्वामी दर्शनानन्द जी ने विज्ञानभिक्षु कृत सांख्य दर्शन की भूमिका (सांख्य प्रवचन भाष्य छापा काशी व कलकत्ता) से उद्धृत किये हैं । वास्तव में ये श्लोक पद्मपुराण के कर्त्ता ने उत्तर खण्ड अध्याय २६३ में इस मायावादी मत के खण्डन में लिखे हैं । पद्मपुराण में इन श्लोकों में कहीं २ कुछ पाठ भेद है, सो भी यहाँ यथास्थान दिखा दिया गया है । परन्तु इस पाठ भेद से वास्तविक भावार्थ में कोई भेद नहीं आता ।

अनुवादक

इसके आगे और उपदेश करते हैं:—

न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्म-
नस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति ॥ ९ ॥

(अर्थ) हे मैत्रयि ! भूतों अर्थात् प्राणियों के अर्थ उनसे प्यार नहीं किया जाता है अर्थात् पञ्चभूतों के अर्थ जलादि को प्यारा नहीं समझा जाता, किन्तु अपने स्वार्थ वश भूतों को प्यार किया जाता है। क्योंकि जब भूख हमें दुखी करती है, तब हम भोजन करते हैं, नहीं तो भोजन के स्वादिष्ट होने से, बिना भूख कोई भोजन नहीं करता। इसी प्रकार प्यास के कारण जल पीते हैं, कभी जल की उत्तमता के कारण जल नहीं पीते! जब कोई किसी उत्तम वस्तु का प्रयोग करता है तो केवल इसी लिये, कि वह उसकी आत्मा के अनुकूल है। नहीं तो वस्तु की उतमता के कारण, यदि वह आत्मा के विरुद्ध हो, तो कोई उसका प्रयोग नहीं करता। आगे चलकर इस झगड़े को समाप्त करने के लिये एक साथ समस्त वस्तु जात के सम्बन्ध में उपदेश करते हैं:—

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु
कामाय सर्वं प्रिय भवति ॥ १० ॥

(अर्थ) हे मैत्रेयि ! इसी प्रकार समस्त पदार्थों से जो प्यार करते हैं, वह सब अपने स्वार्थ के वास्ते हैं, पदार्थों के अर्थ नहीं। जो वस्तु आत्मा के विरुद्ध हो उसकी ओर प्रेम के स्थान पर घृणा हो जाती है, अभी जिससे भाई साहब समझकर इतना स्नेह करते थे कि उसके तनिक से दुख से स्वयं विचलित हो जाते थे। जहाँ उस भाई के प्रति तनिक भी यह शङ्का उत्पन्न हुई, कि यह समस्त धन सम्पति को अपने अधिकार में करना

चाहता है, अथवा हमारे स्वत्व पर अपना अधिकार जमाना चाहता है, झट उसके प्रतिकूल हो जाते हैं। और बहुधा न्यायालय तक जाने की बात आजाती है। दूसरों को घूस देते हैं। किसलिये? कि हमारा भला करेंगे। वकीलों को फ़ीस देते हैं। किसलिये? कि उनकी सहायता से हम जीत जाँयगे। परिणाम यह कि जिसको आत्मा के लिये सहायक समझते हैं, उसे सब कुछ देने को कटिबद्ध रहते हैं। और जिसे आत्मा के प्रतिकूल समझते हैं, उसे कुछ भी देने को तैयार नहीं। आत्मा के प्रतिकूल होते ही सभी रिश्ता नाता और स्नेह विलीन हो जाता है।

इस समस्त उपदेश के पश्चात् महात्मा याज्ञवल्क्य जी कहते हैं:—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः ॥ ११ ॥

अर्थात् हे मैत्रेयि! इस आत्मा को अवश्यमेव देखना चाहिये। जब प्रश्न उत्पन्न हुआ कि निराकार आत्मा चक्षु से किसी भाँति दृष्टिगोचर नहीं हो सकता, उसे कैसे देख सकते हैं? तो इसके उत्तर में कहते हैं कि यद्यपि आत्मा चक्षु से दृष्टिगत नहीं होता, किन्तु हमारा देखने से तात्पर्य्य उसका उचित रूप से जान लेना है। उसके जानने का मार्ग यह है कि पहले श्रवण करना चाहिये कि आत्मा क्या वस्तु है और उसके क्या गुण हैं। यद्यपि आत्मा श्रवणेन्द्रिय से भी जाना नहीं जाता क्योंकि वह शब्द नहीं और श्रवणेन्द्रि द्वारा शब्द के अतिरिक्त और किसी वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता। परन्तु श्रवणेन्द्रिय द्वारा निराकार गुणों के श्रवण करने से गुणी का ज्ञान हो जाता

है। अतएव पहले आत्मा के गुणों को श्रवण करने पश्चात् उनका मनन करे और फिर उनको हृदय में स्थिर करके उन पर आचरण करता चला जावे, तो अवश्य ही अभीष्ट सिद्धि को पहुँच जाता है। यह आत्मा के दर्शन का फल महात्मा याज्ञवल्क्य जी ने यों बतलाया है:—

मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्॥ १२॥ बृहदारण्यक० अ० २ ब्रा० ४ मं० ५॥

(अर्थ) हे मैत्रेयि! आत्मा को जानने और सुनने तथा उसके गुणों का प्रत्येक समय ख्याल पूर्वक विचार करने से मनुष्य को प्रत्येक वस्तु का स्वरूप ज्ञात होजाता है। हमारे बहुत से मित्र यह शङ्का करेंगे कि केवल आत्मा को जानने से कैसे सबका ज्ञान हो सकता है। इसका उत्तर यह है। शरीर के प्रत्येक भाग में आत्मा सूक्ष्मरूप से व्यापक है। जब तक ऊपर के स्थूल आवरणों का ठीक २ ज्ञान न होजाय तब तक उसे आत्मा का दर्शन अर्थात् यथार्थ ज्ञान हो ही नहीं सकता। क्योंकि उसके बाह्य आवरण का भी ज्ञान नहीं। दूसरा कारण यह है कि जब मनुष्य अपने अस्तित्व को उचित रूपेण समझ जाता है, तो उसे इस बात भी का ज्ञान हो जाता है कि मुझे कितने पदार्थों से सम्बन्ध करना पड़ता है और उनसे मेरी दशा पर क्या प्रभाव पड़ता है और उन से कौन सा प्रभाव मेरे वास्ते लाभप्रद और कौन सा हानिकर है। जिसे वह हानिकर समझता है उसके नाश के निमित प्रयत्न करता है, और जिसको लाभप्रद समझता है उसका प्राप्त्यर्थ प्रबन्ध करता है।

अब पुनः प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि आत्मा को कैसे जान सकते हैं? उसके जानने के लिये उसके गुणों को किस से

सुनें ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि साधारणतया प्रत्येक मनुष्य जितने पदार्थों को जान सकता है, उन सब का इन्द्रियों द्वारा ही अनुभव होना है किन्तु इन्द्रियों द्वारा अनुभव प्राप्त करने वाली आत्मा को जानने के लिए इन्द्रियों द्वारा काम नहीं चल सकता। उसके लिये जो मार्ग सांसारिक पदार्थों के ज्ञात करने के निमित्त हैं, उनसे भिन्न शक्ति से काम लेना पड़ता है। अब बहुत से महाशय यह कह देंगे कि यदि इन्द्रियों द्वारा उसे नहीं जान सकते तो बुद्धि द्वारा उसे जानने का प्रयत्न करेंगे किन्तु बुद्धि भी आत्मा के आश्रित काम करती है। उसमें जितनी ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति है वह सब आत्मा की शक्ति से है क्योंकि वह आत्मा का एक गुण है। अतएव विद्वानों ने विचार पूर्वक ज्ञात कर लिया कि आत्मा के जानने का मार्ग और है। जिसके लिये उपनिषदों में लिखा है :—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूंस्वाम् ॥
कठोपनिषद् वल्ली २। २३ ॥

(अर्थ) मनुष्यों के विशेष वाद विवाद और वाणी के उपदेश से ही इस आत्मा का वास्तविक ज्ञान नहीं हो सकता। और न केवल मेधा से ही इसका ज्ञान हो सकता है। बहुत से मनुष्य कृत ग्रन्थों के श्रवण से भी इसका ज्ञान नहीं हो सकता। परन्तु जिसको यह आत्मा योग्य समझ कर ग्रहण करना चाहता है उसी को ज्ञान हो सकता है, और उसी पर यह आत्मा अपने गुणों को प्रगट करता है, क्योंकि आत्मा प्रमाता है और उसे जानने के लिये किसी प्रमाण विशेष की आवश्यकता नहीं। क्योंकि प्रत्येक प्रमाण उसकी सहायता करने के निमित साधन का

काम देते हैं किन्तु उसका ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ हैं। कारण यह कि वह सब के सब जड़ हैं।

अब उन रुकावटों को बताते हैं जिससे आत्मा के स्वरूप को वास्तविक रीति से नहीं जान सकते :—

नाविरतो दुश्चरितन्ना शान्तो ना समाहितः।
ना शान्त मानसो वापि प्रज्ञाने नैन माप्नुयात्॥

(अर्थ) जो दुराचार से अपने ज्ञान की शक्ति को कलुषित कर लेते हैं अर्थात् जिन मनुष्यों में दुराचार का स्वभाव पड़ जाने से सत्यानृत और चेतन अचेतन का विवेक नहीं रहता वे आत्मा के स्वरूप को नहीं पहचान सकते। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ के वास्तविक ज्ञान के लिये अविद्या से दूर रहना आवश्यक है। अविद्या ऐसी वस्तु है कि जिसकी उपस्थिति में किसी को भी सत्य ज्ञान नहीं हो सकता। और अविद्या की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है जैसा कि महात्मा कणाद जी ने लिखा है :—

इन्द्रिय दोषात् संस्कार दोषाच्चविद्या।
वैशेपिक अ० ६ अ० २। १०।

(अर्थ) इन्द्रियों में किसी प्रकार का दोष आजाने से या कुसंस्कार वश अविद्या उत्पन्न होती है। अब इन्द्रियों में दोष आजाने के दो कारण होते हैं। (१) बीमारी आदि से (२) इन्द्रियों के सहायक का पूर्णरूपेण सहायता न देने से। जैसे (१) पाण्डु रोग में प्रत्येक वस्तु का पीला दिखाई देना जब कि वास्तव में वस्तुयें पीली नहीं हैं, किन्तु नेत्र विकार से सब पीला ही पीला मालुम होता है। सफेद पदार्थ का पीला दिखाई देना अविद्या है। किन्तु यह अविद्या इन्द्रिय दोष से उत्पन्न होती है। (२) रज्जु में सर्प का भ्रमादि अविद्या केवल आँख के सहायक

प्रकाश की न्यूनता के कारण होती है। जहाँ इन्द्रियों के दोष से अविद्या उत्पन्न होगी, उसके कारण यह दोनों मानने ही पड़ेंगे दूसरी अविद्या जो कुसंस्कार से उत्पन्न होती है, वह इस प्रकार होती है। जैसे किसी व्यक्ति विशेष का बचपन से ही मांस भक्षण का स्वभाव पड़गया है, । अथवा मद्यपानकी लत पड़गई है, या मूर्त्तिपूजन को ईश्वर भक्ति का साधन समझ लिया है। अब यह बातें बुद्धि द्वारा तो सिद्धि हो नहीं सकतीं केवल संस्कार जन्य अविद्या ही इन्हें सिद्धि करती है। कोई तो यह कहता है कि यह रिवाज प्राचीन से चली आती है। अब उनसे यदि पूछें कि पाप प्राचीन से चला आता है अथवा नवीन उत्पन्न हुआ है? यदि कहो नवीन उत्पन्न हुआ तो इसका कारण क्या है? दूसरे क्या प्रमाण है कि वह पाप है। इसी प्रकार बहुत सी बातें हैं, जो अविद्या के कारण फैल गई हैं और उनके मानने वाले किसी भाँति उनको सिद्धि नहीं कर सकते। अतः दुराचरण का स्वभाव अर्थात् कुसंस्कार से भी आत्मज्ञान नहीं होता। दूसरा कारण अशान्ति है अर्थात् विषयों की वासना रात दिन लगी रहने से भी आत्मज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि जो लोग विषय वासना में फँसे हैं, वह विषयों को अपना धर्म समझते हैं। वह नहीं जानते कि मन क्या है और उसके धर्म क्या हैं। इन्द्रिय और उसके धर्म्म का भी उन्हें ज्ञान नहीं और न ही प्राणों की बनावट और उनके कर्म्मों से अभिज्ञ हैं। जो लोग इस प्रकार ऊपरी सामान को भी नहीं जानते, वह उसके अन्तर्गत सूक्ष्म शक्ति को कैसे जान सकते हैं? तीसरा कारण यह है कि जब तक मन शुद्ध और एक स्थान पर स्थिर न होजाय तब तक उन्हें अपने अस्तित्व का पूर्ण ज्ञान नहीं होसकता। क्योंकि यदि नेत्र को देखना अभीष्ट हो, तो नेत्र के दर्शनार्थ दूसरे नेत्र तो हो नहीं सकते। अतः दर्पण में नेत्र के

प्रतिबिम्ब को देखकर नेत्र का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार आत्मज्ञान के लिये कोई अन्य आत्मा तो आ नहीं सकता, परन्तु शुद्ध और स्थिर मन के दर्पण की आवश्यकता है। इसके लिये जो ढङ्ग भारतवर्ष के प्राचीन ऋषियों ने बतलाया है, वह यह है:—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो, मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
* मत्वा च सततं ध्येयं, एते दर्शन हेतवः॥

(अर्थ) प्रत्येक वस्तु के जो इन्द्रियों द्वारा अनुभव किये जाने योग्य न हो जानने का यह ढङ्ग है कि प्रथम तो उसको श्रुति अर्थात् वेदमन्त्रों से सुने, अर्थात् उसके गुणों को जाने और जब गुणों का ज्ञान होजाय, तो उसका तर्क द्वारा अनुसन्धान करे। किन्तु तर्क वही प्रयुक्त करनी चाहिये, जो तर्क की कोटि में आसकती हों। ऐसे बेतुके तर्क, जिनका वास्तविक विषय से कोई सम्बन्ध न हो, जिनको कुतर्क के नाम से प्रसिद्ध किया जाता है, जिनको मूर्ख लोग केवल अपनी बुद्धिमत्ता दिखाने के लिये ही प्रयुक्त करते हैं, और उनसे सत्य के अनुसन्धान का आशय पूर्ण नहीं होसकता, कभी प्रयोग न करें। इस अनुसन्धान के नियम व्याख्या सहित न्याय दर्शन में वर्णित हैं, जो षट् दर्शनों में सब से प्रथम बनाया गया। अतः उन नियमों की विशेष व्याख्या की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं। तर्क से केवल इस बात का अनुसन्धान करना होगा कि जो गुण श्रुति में

---

* यह श्लोक स्वामी जी ने "साँख्यदर्शन विज्ञान भिक्षुकृत भूमिका" से लिया है—

अनुवादक।

बतलाये गये हैं, वैसी कोई वस्तु संसार में विद्यमान है अथवा नहीं। और उसका होना सम्भव भी है अथवा नहीं। यदि वैसी वस्तु विद्यमान है, और उसके अस्तित्व के प्रमाण में युक्ति और दृष्टान्त मिल सकते हैं, तो उसके अस्तित्व को सत्य मानना चाहिये। नहीं तो यह विचार रखना चाहिये कि श्रुति के अर्थ ठीक नहीं ज्ञात हुये।

कतिपय लोग यह शङ्का करेंगे कि श्रुति की अयुक्त सङ्गत बातों के लिये हम ऐसा विचार क्यों करें कि श्रुति के अर्थ समझने में भूल हुई। ऐसा क्यों न मानलें कि श्रुति में दोष है। इसका उत्तर यह है कि जहाँ पर बुद्धि और श्रुति में परस्पर विरोध होगा, अर्थात् श्रुति का विषय प्राकृतिक नियम के प्रतिकूल पाया जायगा, वहाँ दो बातों में से एक का होना आवश्यक है। या तो श्रुति ही उसके प्रतिकूल है, अथवा हमारे अर्थ करने त्रुटि है। पहली बात के सत्य होने में बहुत सी शङ्कायें होंगी। क्योंकि अद्यपर्य्यन्त जितने वेद के समझने योग्य विद्वान हुये हैं सबने वेदों को प्राकृतिक नियम और बुद्धि के अनुकूल देखकर ही ईश्वरीय ज्ञान होना प्रतिपादित किया है। जिसके लिये निम्नस्थ ऋषियों की अकाट्य साक्षी विद्यमान है। महात्मा कणाद जीने अपने वैशेषिक सूत्रों में जो अनुसन्धान किया है उसका परिणाम उन सूत्रों से स्पष्ट हो जाता है, कि कणाद ऋषि जो एक ऐसे शास्त्र के निर्माता हैं जिसकी शिक्षा दीक्षा लाखों वर्ष से चली आती है, और उसके सिद्धान्तों को आज तक किसी विद्वान ने भी मिथ्या सिद्ध नहीं किया, अपने शास्त्र के दूसरे सूत्र में धर्म की यह परिभाषा करते हैं:—

यतो ऽभ्युदयनिः श्रेयस सिद्धिः स धर्म्मः।
वैशे० अ०-१। आ० १। सूत्र २।

(अर्थ) जिससे तत्त्व ज्ञान अर्थात् पदर्थों के वास्तविक स्वतरूप का ज्ञान होजाय और जो मुक्ति का भी कारण हो, उसे धर्म्म कहते हैं। अथवा जो तत्व ज्ञान के द्वारा मुक्ति का कारण हो, वह धर्म्म कहलाता है यहाँ पर यह शंका उत्पन्न हुई, कि तत्व ज्ञान की आवश्यकता ही क्या है ? क्यों न ऐसा माना जाय कि जिससे मुक्ति होजाय वही धर्म्म है। किन्तु इसका उत्तर यह है कि धर्म साधन है और मुक्ति साध्य, अर्थात् धर्म कारण है और मुक्ति उसका कार्य्य है। धर्म्म पहिले कहा जायगा और मुक्ति उसके बाद होगी, धर्म्म बहुत से हैं क्यों कि प्रत्येक मनुष्य अपने मत को धर्म अर्थात् मुक्ति का कारण ही कहता है। और इन बहुत से धर्म्मों में परस्पर विरोध पाया जाता है। जहाँ पारस्परिक विरोध हो, वहाँ दोनों बातें सत्य नहीं होसकतीं। अवश्य एक सत्य और उसके विरुद्ध असत्य होगी। अतएव धर्म का लक्षण यह किया गया कि वह प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को ठीक ठीक बतला सके। क्योंकि प्रत्येक प्रश्न का ठीक उत्तर एक और मिथ्या बहुत से होते हैं। अतः धर्म का लक्षण "ज्ञान के साथ कर्म" रक्खा गया। अब प्रश्न यह उत्पन्न हुआ कि किस प्रकार प्रत्येक पदर्थ के स्वरूप का ज्ञान होसकता है ? क्यों कि पदर्थ अनन्त हैं और जीवात्मा की शक्ति सीमान्त है। इसके उत्तर में महात्मा कणाद जी ने बतलाया, कि वेदों की शिक्षा से प्रत्येक वस्तु का ठीक ठीक स्वरुप ज्ञात होसकता है, क्योंकि वह ईश्वरीय ज्ञान अथवा उपदेश है। अतः तीसरे सूत्र में कहाः—

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम वैशे १ । १ । ३

(अर्थ) ईश्वर का उपदेश होने से आम्नाय जो वेद, हैं उसे प्रत्येक पदार्थ के स्वरूप के जानने में प्रमाण समझना चाहिये,

अर्थात् वेदों के उपदेश से प्रत्येक पदार्थ का यथार्थ ज्ञान हो सकता है ॥ कतिपय महाशय यहाँ पर यह कहते हैं कि सूत्र में तो ईश्वर वाची शब्द विद्यमान नहीं है। अतः इसका अर्थ यह करना चाहिये कि धर्म का उपदेश करने में वेद को प्रमाण मानना चाहिये, क्योंकि धर्म की व्याख्या व्याख्या वेद में की गई है। किन्तु इससे भी वही अभिप्राय निकल आता है, कि वेद में तत्वज्ञान का उपदेश विद्यमान है। आगे चलकर महात्मा कणाद ने इस बात को भी प्रगट किया है कि वेद का प्रत्येक शब्द बुद्धि के अनुकूल है इसमें बुद्धि और तत्वज्ञान के विपरीत किसी और प्रकार का उपदेश नहीं। देखो सूत्र १

बुद्धिपूर्वाविक्यकृति वेदे ।

वैसे० अ० ६ आ०१ सूत्र १ ।

तर्थात् वेद में जितना उपदेश है, वह सब का सब उपदेष्टा ने ज्ञान के अनुकूल ही दिया है। ज्ञान के विपरीत वेद में किसी प्रकार का भी उपदेश नहीं। परिणाम यह कि प्रत्येक अवसर पर महात्मा कणाद जी ने वेदों का बुद्धि के अनुकूल होना सिद्धि किया है। इसी प्रकार और ऋषियों ने भी अपने सूत्रों में वेद को ज्ञान का भण्डार माना है। और वेद शब्द का अर्थ भी ज्ञान ही है। जिससे यह विचार सर्वथा मिथ्या प्रतीत होता है कि कदाचित वेद में भी बुद्धि के विपरीत कोई विषय हो। जब वेद में तर्क के प्रतिकूल कोई भी विषय विद्यमान नहीं, तो जहाँ वेदार्थ अयुक्त सङ्गत होगा, उसके मिथ्या होने में कोई शङ्का नहीं। अतएव वेद के अर्थों को युक्ति से प्रमाणित करके मानना चाहिये। अयुक्तसङ्गत अर्थ का मानना सर्वथा मूर्खता है। जो लोग वेदों का अर्थ अयुक्त सङ्गत करते हैं वे बड़ी भूल करते हैं। अतः मनु-

ष्य मात्र का कर्तव्य है कि वह प्रत्येक विषय को (जिसे उसकी इन्द्रियाँ नहीं अनुभव कर सकतीं) वेद द्वारा सुन कर और युक्तियों से उसकी पुष्टि करके उस पर आचरण करे। इस प्रकार आचरण करने से कदापि हानि नहीं हो सकती।

अगले नम्बरों में इस विषय का वादविवाद करेंगे, कि नवीन वेदान्तियों में जो नाना प्रकार के सिद्धान्त (theories) स्थिर किये गये हैं, वह कहाँ तक अयुक्त सङ्गत और प्राचीन वेदान्त के विरुद्ध हैं, और नवीन वेदान्त से कितना कलुषित प्रभाव मनुष्य की विवेक शक्ति पर पड़ता है।

ओ३म्

नवीन व प्राचीन वेदान्त

(वैदिक मेगज़ीन नं० १ पृष्ठ ३६ के आगे)

बहुत से मनुष्यों का विचार है कि वर्तमान वेदान्त (जिसमें सारे कर्मों का अभाव है और जो प्रत्येक मनुष्य को ब्रह्मबना देता है) शङ्कराचार्य्य का सिद्धान्त है। किन्तु विचारशील मनुष्य, जिन्होंने वर्तमान वेदान्त और शङ्कराचार्य के सिद्धान्तों का पठन किया है, जो इन दोनों के समझने की योग्यता रखते हैं, शीघ्र कह देंगे कि शङ्कराचार्य्य के ऐसे विचार नहीं थे, जैसे कि आधुनिक वेदान्ती कहलानेवालों के हैं। आधुनिक वेदान्ती तो शङ्कराचार्य्य के सिद्धान्तानुसार उत्तम ज्ञान के अधिकारी ही नहीं, क्योंकि शंकरस्वामी का सिद्धान्त तो यह था, कि वेदान्त शास्त्र पढ़ने का अधिकार ऐसे मनुष्यों को है:—जैसा उन्हों ने आत्मबोध में लिखा है:—

तपोभिः क्षीणपापानां, शान्तानां वीतरागिणाम्।
मुमुक्षूणां हितार्थाय, आत्मबोधो विधीयते॥

(अर्थ) जिन लोगों के पाप तप करने से छूट गये हैं; जो सांसारिक विषय वासनाओं से मुक्त होकर मन के मल विक्षेपादि दोषों से रहित होगये हैं; जिनका चित्त विक्षेप विनाश से शान्त तथा राग से सर्वथा शून्य होगया है अर्थात् उनको

सांसारिक किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं रही; जिनकी दृष्टि में संसार का चक्रवर्ती राज्य कौवे की बीट के सदृश है; जो सांसारिक मानप्रतिष्ठा को शूकर-विष्ठा के समान समझते हैं; जिनको गौरव महान रौरव नरक प्रतीत होता है; जिनके हृदय में किसी प्रकार की भी इच्छा नहीं और जो मोक्ष के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु से दूर रहना चाहते हैं; इस प्रकार के मनुष्यों को वेदान्त शास्त्र पढ़ने का अधिकार है। किन्तु वर्तमान वेदान्तियों का विचार सर्वथा इसके विपरीत हैं। वे समस्त विषय वासनाओं में लिप्त होते हुए भी वेदान्ती होने की डींग मारते हैं। बहुधा लोग नवीन वेदान्त के भरोसे पर संसार कमाने का साधन होरहे हैं। किन्तु यहाँ पर इन झगड़ों को छोड़ कर केवल सिद्धान्तों का विरोध दिखाना है।

वर्तमान वेदान्ती बड़े ज़ोर से कहते हैं कि हम ब्रह्म हैं। परन्तु वहाँ तक प्रचीन ग्रन्थों का अवलोकन करते हैं, तो उनसे जीव के शुद्ध ब्रह्म होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। हाँ प्रचीन वेदान्त यह अवश्य कहता है कि ब्रह्मज्ञान से जीव ब्रह्मरूप होजाता है। इसका तात्पर्य्य यह है कि जीवात्मा सत्, चित् तो उस समय ही है, जब ब्रह्म का ज्ञान होता है, इस समय ब्रह्म की उपासना से उस में आनन्द गुण भी आ जाता है। मानो वह ब्रह्मरूप सच्चिदानन्द हो जाता है। यदि कोई कहे कि आग पर रखने से जल भी अग्निरूप हो जाता है तो कोई दूसरा उसका अर्थ "जल अग्निरूप ही है" ऐसा समझ ले, तो सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि जल में जो उष्णता है वह अग्नि के उसमें प्रवेश करने से है। वास्तव में वह उष्णता तो अग्नि की है। जल में उष्णता का न होना स्पष्ट है, क्योंकि वह अग्नि के संयोग से होती है और अग्नि के न मिलने से नहीं होती। अब

ब्रह्मरूप होजाना जो जीव का ब्रह्मज्ञान के कारण नैमितिक धर्म था, उसे जीव का स्वाभाविक धर्म मान लेना और कहना कि जीव ब्रह्म ही है, सर्वथा शास्त्र विरुद्ध है। हमारे बहुत से मित्र कहेंगे कि तुम्हारे पास क्या प्रमाण है कि आनन्द जीव का स्वाभाविक गुण नहीं किन्तु नैमितिक है। इसके प्रमाण में हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि प्रथम तो जो लोग यह कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान से ब्रह्म होजाता है, वह जीव का एक अवस्था में ब्रह्म होना बतलाते हैं। यदि जीव स्वभाव से ही ब्रह्म होता तो यह कहना कि ब्रह्मज्ञान से ब्रह्म हो जाता है, सर्वथा मिथ्या होजाता है। क्योंकि जब ब्रह्म ही है तो ब्रह्मज्ञान से क्या होगा। इसके अतिरिक्त महर्षि कपिल जी ने लिखा है :—

समाधि सुषुप्ति मोक्षेषु ब्रह्म रूपता ।

साँख्य० अ० ५ सूत्र ११६

अर्थात् तीन दशाओं में ब्रह्मरूपता अर्थात् ब्रह्म के लक्षण वाला होना पाया जाता है (१) समाधि दशा में (२) सुषुप्ति दशा में और (३) मुक्ति दशा में॥ इससे स्पष्ट है कि जो धर्म किसी अवस्था विशेष में होता है, वह उसका अपना निजी धर्म नहीं होता प्रत्युत जिस वस्तु के होने से होता और न होने से नहीं होता है उसी का धर्म कहलाता है। यदि जीवात्मा सदा से ही ब्रह्म होता और किसी अवस्था विशेष में उसका अभाव न होता, तो जीव ब्रह्म ही कहा जा सकता किन्तु सिद्धान्त सर्वथा इसके प्रतिकूल है। यद्यपि प्राचीन वेदान्त में जीव को सदा शुद्ध कहीं नहीं लिखा वरन् जन्म मरण से रहित माना है। आधुनिक वेदान्ती जिन महा वाक्यों से अभेद की सिद्धि करते हैं, उन्हीं से,

जीवात्मा के नित्य होने का प्रमाण मिलता है। किन्तु थोड़ा सा आगा पीछा विचारने की आवश्यकता है।

१ (नवीन वेदान्ती)—"तत्वमसि" यह सामवेद का महा-वाक्य है। इससे अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि होती है और जीव का ब्रह्म होना भी सिद्धि होता है। अर्थात् इस वाक्य में तीन पद मिले हुए हैं, (१) "तत" (२) "त्वम्" और (३) "असि" इनका अर्थ यों है :—"तत्" (वह) अर्थात् ब्रह्म। "त्वम्" (तू) अर्थात जीव। "असि" (है)। जिसका तात्पर्य्य यह हुआ कि "हे जीव! ब्रह्म तू है। जब कि सामवेद में यह वाक्य आया है, तो तुम किस भाँति कह सकते हो कि जीव ब्रह्म का अभेद नवीन वेदान्त में है, प्राचीन ऐसा नहीं मानते थे।

१ (सिद्धान्ती)—तुम "तत" पद का अर्थ "वह" अर्थात ब्रह्म कैसे बतलाते हो, क्योंकि वह तो केवल प्रथम पुरुष वाची सर्व-नाम शब्द है और यह उसे प्रकट करता है, जिसका वर्णन पहिले आचुका हो। दूसरी बात यह है कि तुमने सारी श्रुति को छोड़ कर केवल "तत्वमसी" इतना ही क्यों लिया। यदि तुम सारी श्रुति और उसके उत्तर भाग को देखो तो तुम्हें स्वयं ज्ञात हो जायगा, कि इस श्रुति से जीव ब्रह्म का अभेद सिद्धि नहीं होता। किन्तु यह श्रुति इसके प्रतिकूल है और न यह श्रुति सामवेद की श्रुति ही है। उद्यालक ऋषि ने जो अपने पुत्र श्वेतकेतु को छान्दोग्य उपदेश किया है, वहाँ का वाक्या है। जब कि तुम्हारे प्रमाण इतने निर्बल हैं, तो तुम्हारा जीव ब्रह्म का अभेद कैसे सिद्धि हो सकता है।

२.(नवीन वेदान्ती)—अर्थ दो प्रकार का होता है (१) वच्यार्थ (शब्दार्थ) और (२) लक्ष्यार्थ (जो अर्थ से निकलता हो)। यहाँ "तत्" पद का शब्दार्थ "वह" है, किन्तु तात्पर्य्य ब्रह्म

से ही है। और "त्वम्" का अर्थ तू है, किन्तु तात्पर्य्य जीव से है। अतः इस श्रुति का यही अर्थ ठीक है। सारी श्रुति के लिखने की कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि "भागत्याग लक्षणा" से अर्थात् अनावश्यक भाग को छोड़ कर आवश्यक भाग से ही प्रयोजन सिद्ध होजाता है। जैसे किसी ने कहा कि यह देवदत्त जो काशी में कम्बल धारण किये हुये था अब मथुरा में दुशाला धारण किये है। यहाँ तात्पर्य्य केवल देवदत्त को बतलाने से है। काशी कम्बल और दुशाला, तथा मथुरा से कोई प्रयोजन नहीं। और यह वाक्य उद्यालक मुनि का श्वेतकेतु को उपदेश है सही किन्तु हम छान्दोग्योपनिषद् श्रुति को सामवेद ही मानते हैं। हमारे प्रमाण में किसी प्रकार की निर्बलता नहीं। यदि इसका कोई और तात्पर्य्य है, तो प्रगट करो।

२ (सिद्धान्ती)—तुम ने इस श्रुति का अर्थ सर्वथा विपरीत कर दिया क्योंकि इस श्रुति का ९ स्थानों पर श्वेतकेतु को उपदेश किता गया है, किन्तु ब्रह्म से तात्पर्य्य एक स्थान पर भी नहीं, प्रत्युत स्पष्ट रूप से जीवात्मा का ही वर्णन है देखो छान्दोग्योपनिषद् छापा काशी :—

> अस्य सौम्य महतो वृक्षस्य यो मूले ऽभ्याहन्या-
> ज्जीवन् स्रवेद्यो मध्ये ऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्यो ऽग्रे
> ऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेत्स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः
> पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति। छां० अ० ६ खं० ११ वा० १

(अर्थ) हे सौम्य भ्रात् प्यारे पुत्र ! इस बड़े वृक्ष को यदि जड़ पर काटा जाय तो भी जीवन ही निकलेगा; यदि मध्य से काटा जाय, तो भी जीवन ही टपकेगा; यदि ऊपर से या आगे से काटा जाय तो भी जीवन ही निकलेगा। यह वृक्ष जीव से

परिपूर्ण है और उसके भीतर परमात्मा विद्यमान हैं, उसी के आनन्द को भोगता हुआ यह वृक्ष स्थिर है ॥ यहाँ पर वृक्ष से तात्पर्य्य इस शरीर से है। यदि पैर काटें तो भी दुख होने से चेतन के गुणों का विकाश होगा। यदि पेट चाक किया जाय, तो भी जीवन प्रगट होगा। यदि शिर काटा जाय तो भी जीवन के अस्तित्व का प्रमाण मिलेगा। इस समस्त शरीर में जीवात्मा विद्यमान है और वह जीव परमात्मा से (जो सब में व्याप्त है) आनन्द प्राप्त करता हुआ स्थिर रहता है।

अब यह दिखलाते हैं कि जीवात्मा के निकल जाने से मृत्यु होती है! जीवात्मा की मृत्यु नहीं होती।

अस्य यदेका ंशाखा जीवो जहात्यथ सा शुष्यति द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति, तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति; सर्वं: जहति सर्वः शुष्यत्येवमेव खलु सौम्य! विद्धीति हो वा च।
छां० अ० ६ खं० ११ वा० १

(अर्थ) जब इस शरीर के एक भाग को जीव छोड़ देता है अर्थात् उस से अलग हो जाता है, तब वह भाग शुष्क हो जाता है। जब दूसरे भाग को जीव छोड़ता है, तब वह सूख जाता है। जब तीसरे भाग को छोड़ता है, वह भी सूख जाता है। और जब सारे शरीर को त्याग देता है, तब सारा शरीर सूख जाता है। हे प्रिय पुत्र! इस प्रकार समझले, कि जीव के अलग हो जाने से यह शरीर मर जाता है, किन्तु जीव नहीं मरता। अब प्रश्न उत्पन्न हुआ कि वह जीव क्या है? कि जिसके अलग होने से यह शरीर मर जाता है परन्तु वह स्वयं अमर है। इसका उत्तर देते हैं:—

जीवापेतं वावकिलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच। छान्दो० अ० ६ । खं० ११ ।

(अर्थ) जीव के अलग होने से शरीर मृत हो जाता है और जीव अमर है, जो एक सूक्ष्म रूप है। यह शरीर उसका निवासस्थान है और शरीर के प्रत्येक भाग में वह व्याप्त है। वह सत् अर्थात् त्रिकाल में रहने वाला है। उसी का नाम "आत्मा" अर्थात् समस्त शरीर में व्यापक होकर रहनेवाला है। ऐ श्वेतकेतु प्रिय पुत्र ! तू ही जीवात्मा है। इस श्रुति में तो जीव को अमर और समस्त शरीर में व्यापक बताया गया है। यहाँ ब्रह्म और जीव के एक होने का तो कुछ भी विचार नहीं।

३.(प्रश्न)—क्या जीव समस्त शरीर में व्यापक है या शरीर के किसी एक भाग में निवास करता है ? अर्थात् जीव "अणु परिमाण" है या "मध्यम परिमाण" अर्थात् अटकल से परे और सारे शरीर में व्यापक है अथवा "विभु" यानी समस्त संसार में व्यापक है ?

३.(उत्तर)—यह तीनों प्रकार के परिमाण साकार और सावयव पदार्थ के लिये होते हैं। जीव इन तीनों प्रकार के परिमाणों से परे और समस्त शरीर में व्यापक है। किन्तु सूक्ष्म होने के कारण जिस शरीर में जाता है उसी समस्त शरीर में रहता है। शरीर के किसी एक भाग में नहीं रहता और नहीं समस्त संसार में व्यापक है, वरन जीव को आत्मा कहने मात्र से शरीर में व्यापक होना ही सिद्ध होता है।

४ (प्रश्न)—बहुत से आचार्यों ने जीवात्मा को विभु अर्थात् सारे संसार में व्यापक अथवा प्रत्येक मूर्तिमान पदार्थ के साथ सम्बन्ध रखनेवाला बतया है। क्या यह बात मिथ्या है? और "आत्मा" शब्द का अर्थ भी व्यापक ही है-(अतति व्याप्नोति इति आत्मा)।

४ (उत्तर)—आत्मा को व्यापक बतलाने के दो कारण हैं। एक तो आत्मा शब्द का परमात्मा के लिये प्रयोग होता है और परमात्मा समस्त ब्रह्माँड का आत्मा होने से सर्वव्यापक ही है। दूसरे जहाँ जीवात्मा को विभु बतलाया है, वहाँ स्वरूप से विभु नहीं बतलाया, किन्तु जाति से विभु बतलाया है। तात्पर्य्य यह कि संसार में कोई वस्तु ऐसी नहीं; जिससे किसी न किसी जीव का सम्बन्ध न होता हो। जीव अनन्त है अतएव जाति से जीवों का प्रत्येक पदार्थ के साथ सम्बन्ध है। कोई भी पदार्थ जीव जाति के सम्बन्ध से अलग नहीं।

५ (प्रश्न)—यदि हम जीव को स्वरूप से सर्वव्यापक मानें, तो क्या हानि होगी? क्योंकि बहुत से विद्वानों का ऐसा ही मत है।

५ (उत्तर)—जीवात्मा को स्वरूप से सर्वव्यापक मानने से सारे संसार में एक ही जीव मानना पड़ेगा। यदि सारे संसार में एक ही जीव मान लिया जाय तो मुक्ति और बन्धन का नियम टूट जायगा। और श्रुति ने जो मुक्ति का मार्ग बतलाया है, वह सब निष्फल होजायगा। मुक्त और बद्ध का भेद और कर्म-व्यवस्था जीवों को अनेक मानने से ही चल सकती है। यदि जीव को एक माना जाय, तो वेदान्त के अधिकारी और अनधिकारी का भेद जो बतलाया गया है, वह सब व्यर्थ हो

जायगा। यद्यपि आधुनिक नवीन वेदान्ती साधन षट् सम्पति आदि को मानते हैं. किन्तु इस दशा में बन्धन और मुक्ति कोई वस्तु ही न रहेगी। क्योंकि एक ही जीव के होने की दशा में बद्ध और मुक्त का भेद न होने से सब व्यवहार छिन्नभिन्न हो जायगा।

६ (प्रश्न)—बन्धन और मुक्ति जीवात्मा का धर्म नहीं है, वरन् यह उपाधि जन्य है। अन्तःकरण उपाधि से जीवात्मा बँध जाता है और अन्तःकरण उपाधि के अलग होने से मुक्त होजाता है। अन्तःकरणों के अनेक होने से जीवात्मा अनेक प्रतीत होते हैं। वास्तव में जीवात्मा एक ही है।

६.(उत्तर)—अन्तःकरण नित्य है अथवा अनित्य ? उसका उपादान और निमित्त कारण क्या है ? नवीन वेदान्त में ब्रह्म के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं मानी गई। अब अन्तःकरण को सत् मानने से तो ब्रह्म के साथ अन्य वस्तु स्थिर हो जायगी। यदि असत् मानें, तो ब्रह्म से उसकी उत्पति माननी पड़ेगी। जब अन्तःकरण का उपादान कारण ब्रह्म ही होगा, तो उसमें ब्रह्म के धर्म्म होने चाहिये। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप होने से मुक्तिप्रदाता है और बन्धन करना उसका धर्म नहीं। अतएव अन्तःकरण ब्रह्म से उत्पन्न नहीं माना जा सकता। जब अन्तः करण का तुम्हारे मत से दोनों प्रकार का होना सिद्धि नहीं होता, तो अन्तःकरण से जीवों का भेद कैसे हो सकता है ?

७.(प्रश्न)—हम लोग जीवात्मा को वास्तव में बद्ध और मुक्त नहींमानते और न ही ब्रह्म से अन्तःकरण की उत्पति मानते हैं। परञ्च ब्रह्म को अन्तःकरण का विवर्त्त उपादान कारण मानते हैं, अतः अन्तःकरण में ब्रह्म के धर्म नहीं आते हैं। क्योंकि

ब्रह्म अन्तःकरण का उपादान कारण नहीं है, वरन् विवर्त उपादान है। जैसी रज्जु में सर्प की प्रतीत होती। रज्जु उसका उपादान कारण नहीं, किन्तु विवर्त उपादान है। क्योंकि रज्जु विकृत होकर सर्प नहीं बन जाती है, परन्तु उसमें सर्प का भ्रम होता है। इसी प्रकार ब्रह्म विकृत होकर अन्त :करण नहीं बन गया, किन्तु भ्रमवश अन्तःकरण रूप प्रतीत होता है।

७. (उत्तर)—तुम स्वयं अपने सिद्धान्त का खण्डन कर रहे हो। पहले तुमने जीव को एक मान कर अन्तः करण उपाधि से उसका नाना प्रतीत होना बतलाया था। अब तुमने अन्तःकरण उपाधि का वास्तविक न होना केवल भ्रम से प्रतीत होना बतलाया है। जो तुम्हारा अन्तःकरण ही भ्रम से प्रतीत होता है, तो अन्तःकरण द्वारा जीव का नाना प्रतीत होना भी भ्रम ही से प्रतीत होता होगा। वास्तव में जीवों का नाना अर्थात् अनन्त होना ही सत्य है।

८. (प्रश्न)—यदि जीव एक शरीर में व्यापक माना जाय तो मध्यम परिमाण वाला होगा। और प्रत्येक मध्यम परिमाण वाला संयोगज और सावयव होता है। और जो संयोगज और सावयव अर्थात् अणुओं के संयोग से बनता है वह विनाशमान होता है। अतएव तुम्हारा जीव नाशमान हो जायगा जिसे श्रुति ने अमर बतलाया है।

८. (उत्तर) परिमाण और आकृति साकार पदार्थों में होती है। जीवात्मा निराकार है अतः वह मध्यम परिमाण वाला और साकार नहीं। जब साकार नहीं तो उसका विनाश कैसे हो सकता है ?

९. (प्रश्न)—इस प्रकार का कोई दृष्टान्त नहीं कि कोई निराकार पदार्थ अणु और विभु से भिन्न एक देशी हो। इसके सम्बन्ध में कोई युक्ति न होने से ऐसा मानना सर्वथा मिथ्या है।

६. (उत्तर)—जीवात्मा और परमात्मा दोनों परोक्ष अर्थात् इन्द्रियों की शक्ति से बाहर हैं और दृष्टान्त जितने दिये जाते हैं वह सब इन्द्रियों से अनुभव किये जाने वाले पदार्थों से दिये जाते हैं। दूसरे जीवात्मा और परमात्मा सत हैं और दृष्टान्त जितने दिये जाते हैं वह सब असत पदार्थों से दिये जाते हैं। अतएव यह दोनो पदार्थ और उनके गुण अनुपम हैं। जिनके वास्ते कोई दृष्टान्त लोक में नहीं मिल सकता। हाँ और प्रकार की युक्तियाँ और शब्द प्रमाण अर्थात् योगी के प्रत्यक्ष करने पश्चात् उसके कहने से पता मिल सकता है।

१०. (प्रश्न)—जब जीवात्मा और परमात्मा प्रत्यक्ष नहीं होते तो उनका ज्ञान अनुमान ही से हो सकता है। और अनुमान के लिये दृष्टान्त आवश्यक है। जब जीवात्मा के सिद्धि करने के लिये कोई दृष्टान्त नहीं तो उसका याथार्थ अनुमान भी नहीं हो सकता। और प्रत्यक्ष तथा अनुमान से सिद्धि न होने से जीव का अस्तित्व अयुक्त सङ्गत है।

१०. (उत्तर)—जीवात्मा और परमात्मा का मानसिक प्रत्यक्ष होता है, अतः उनका अस्तित्व अयुक्त सङ्गत नहीं। जिस प्रकार नेत्र के दर्शनार्थ दर्पण के अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि देखना नेत्र का धर्म है। उसके देखने के लिये दूसरा नेत्र कहाँ से आ सकता है। अतएव नेत्र के दर्शनार्थ जैसे दर्पण की आवश्यकता होती है, वैसे ही जीवात्मा के अस्तित्व को जानने के निमित्त मन ही एक साधन हो सकता है।

११. (प्रश्न)—नेत्र दर्शन के समान जीवात्मा के दर्शन के लिये तो मानसिक प्रत्यक्ष हो सकता है, किन्तु परमात्मा के

दर्शनार्थ मानसिक प्रत्यक्ष किस प्रकार हो सकता है ? क्योंकि मन का और परमात्मा का तो कोई सम्बन्ध नहीं है।

११. (उत्तर)—जिस प्रकार नेत्र में सुरमा होता है, उसको अत्यन्त निकटवर्ती होने के कारण नेत्र दर्पण के बिना नहीं देख पाता, ऐसे ही परमात्मा को (जो जीवात्मा का अत्यन्त निकटवर्ती है) जीवात्मा स्वयं नहीं देख पाता। परमात्मा का आनन्द जब मन में प्रतीत होता है और मन समस्त विषयों से पराङ्मुख हो जाता है, तब उसे (परमात्मा को) जान जाते हैं।

१२. (प्रश्न)—प्रत्येक आत्मा को परमात्मा और जीवात्मा का मानसिक प्रत्यक्ष नहीं होता, अतएव मानसिक प्रत्यक्ष को प्रमाण मानकर तद्द्वारा आत्मा और परमात्मा की सिद्धि करना उचित नहीं। क्योंकि मानसिक प्रत्यक्ष अपने अस्तित्व के लिये स्वयं प्रमाण चाहता है। यदि मानसिक प्रत्यक्ष सबको होता, तो प्रमाण माना जा सकता था।

१२. (उत्तर)—सब मनुष्यों को किसी इन्द्रिय विशेष का भी प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे अन्धों को रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता। बधिरों को शब्द का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी प्रकार जिसकी इन्द्रिय दूषित है, उसको उसके विशेष का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। जब कि सारे मनुष्यों को किसी इन्द्रिय विशेष का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, तो मानसिक प्रत्यक्ष को मानना ठीक है अथवा समस्त इन्द्रियों का प्रत्यक्ष न माना जाय, यह ठीक है ?।

१३. (प्रश्न)—इन्द्रियों में तो दोष आजाने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता। जिसकी इन्द्रिय दूषित न हो, उसको तो अवश्य प्रत्यक्ष होता है। किन्तु मानसिक प्रत्यक्ष तो किसी को भी नहीं होता। केवल योगियों को होना सुना जाता है।

१३. (उत्तर)—जिस प्रकार जिसकी इन्द्रियों में दोष न हों, उसको प्रत्यक्ष होता है, और जिसकी इन्द्रियों में दोष हो, उसे नहीं होता। इसी प्रकार जिसके मन में दोष हों उसको जीवात्मा और परमात्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता, और जिसका मन दोष रहित हो, उसको प्रत्यक्ष होता है।

१४. (प्रश्न)—मन में क्या दोष होते हैं ?

१४. (उत्तर)—मन में तीन प्रकार के दोष होते हैं। (१) मल दोष (२) विक्षेप दोष और (३) आवरण दोष।

१५. (प्रश्न)—मल दोष किसे कहते हैं ?

१५. (उत्तर)—जब मन बुरी वासनाओं में लिप्त रहे, उस समय उस में मल दोष होता है। मल दोष तमोगुण को कहते हैं। अर्थात् जब तमोगुणी वासनायें हों, तो उसे मल कहते हैं। तमोगुण से मनुष्य का ज्ञान अत्यन्त निर्बल हो जाता है, जिससे उसकी प्रवृति कुकर्म्म की ओर अधिक होती है। अर्थात् हिंसा, चोरी, डाका, व्यभिचार, असत्यभाषणादि कुकर्म्म मन में मल दोष होने के लक्षण हैं।

१६. (प्रश्न)—विक्षेप दोष किसे कहते हैं ?

१६. (उत्तर)—जब मन प्रत्येक समय किसी न किसी वस्तु की कामना में लगा रहे, और प्रशान्त होकर एक ओर न लगसके, उस समय उसमें विक्षेप दोष होता है। विक्षेप रजोगुण से होता है। जब रजोगुण का आधिक्य होता है, तो प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा की कामना और अहङ्कार आदि की वृद्धि होती है।

१७. (प्रश्न)—आवरण दोष किसे कहते हैं ?

१७. (उत्तर)—जब दर्पण की भाँति मन शुद्ध हो। केवल

आत्मा और मन के बीच किसी संस्कार विशेष का आवरण मात्र शेष हो। इस दशा में सतोगुणी वासनायें विद्यमान रहती हैं अर्थात् परोपकार या दान आदि का ध्यान रहना।

१८. (प्रश्न)—मल दोष के दूर करने का क्या उपाय है?

१८. (उत्तर)—मल दोष के कारण मन प्रत्येक समय बुरी वासनाओं से परिपूर्ण रहता है। अतः सदा किसी न किसी शुभ कार्य्य में लिप्त रहना मल दोष को दूर करने का साधन होता है। क्योंकि जब मन आवश्यक तथा शुभ कृत्यों से कभी निश्चित ही न होगा तो उसे बुरे विचारों व दौड़ाने का अवसर ही कैसे मिलेगा। अतःमल दोष को दूर करने के लिये वेदोक्त कर्म्म, यज्ञ, दान, जप दिक हैं?

१६. (प्रश्न)—विक्षेप दोष किस प्रकार दूर हो सकता है?

१६. (उत्तर)—विक्षिप दोष में मन बहुत चञ्चल और अत्यन्त लोभी तथा विषयी हो जाता है। इसके दूर करने का उपाय ईश्वरोपासना और जगत के पदार्थों में दोष बुद्धि करके वैराग्य उत्पन्न करना है। जब तक किसी मनुष्य में वैराग्य तथा उपासना करने की शक्ति न हो तब तक उसकी वृतियों का निरोध नहीं हो सकता।

२०. (प्रश्न)—आवरण दोष दूर करने का क्या उपाय है?

२०. (उत्तर)—आवरण दोष केवल वेद वेत्ता और शास्त्रोक्त युक्तियों से सिद्धि करके दिखाने वाले गुरु के उपदेश से दूर हो सकता है। गुरु उपदेश और समाधि में मानसिक प्रत्यक्ष होने के अतिरिक्त इसका अन्य उपाय नहीं।

२१. (प्रश्न)—आज कल बहुत से लोग वेदानुकूल कर्म्म

और ईश्वरोपासना करते हैं और गुरु से उपदेश भी ग्रहण करते हैं किन्तु उनके मन से दोष दूर नहीं हुये।

२१ (उत्तर)—प्रथम तो लोग अनियम कर्म करने से सफलता प्राप्त नहीं करते। दूसरे बहुधा दिखावे के लिये मन्दिरों और नदी के घाटों पर सन्ध्योपासनादि करते हैं। जिससे मन शान्त होने की अपेक्षा और विक्षिप्त हो जाता है।

२२ (प्रश्न)—नवीन वेदान्त और प्राचीन वेदान्त में मुक्त जीवात्मा के स्वरूप में क्या भेद होता है?

२२. (उत्तर)—नवीन वेदान्त तो जीव को ब्रह्म स्वरूप हो जाना बतलाता है और प्राचीन वेदान्त ब्रह्म रूपिता अर्थात् ब्रह्म के गुणों का उसमें आ जाना बतलाता है। दोनों का ब्रह्म स्वरूप होना तो हर प्रकार से सिद्ध है। किन्तु भेद केवल इतना है कि प्राचीन मत में आनन्द गुण जीव में ब्रह्म सम्बन्ध से नैमितिक आता है। और नवीन वेदान्त वाले जीव को स्वाभाविक रूप से आनन्द स्वरूप मानते हैं अर्थात् आनन्द का ब्रह्म से प्राप्त होने के स्थान पर वे लोग इसे जीव का स्वाभाविक गुण मानते हैं।

२३.(प्रश्न)—प्राचीन वेदान्त में जीव और ब्रह्म का भेद है अथवा अभेद?

२३.(उत्तर)—जीव और ब्रह्म का भेद है। जैसा कि लिखा है:—

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्ष परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्व त्यनश्नन्नन्यो ऽभिचाकशीति॥
श्वेताश्वतरोपनिषद् अ० ४ मं० ६।

(अर्थ) एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं। वे परस्पर एक दूसरे से मिले हुये हैं। उनमें परस्पर प्रेम भी है। एक तो उसमें से उस वृक्ष के फलों को खाता है किन्तु दूसरा उसके फलों का उपभोग नहीं करता। यहाँ दो पक्षियों से तात्पर्य्य जीव और ब्रह्म से है जो प्रकृति नामक वृक्ष पर निवास करते हैं। जीव प्रकृति के फलों को भोगता है किन्तु ब्रह्म उससे सर्वथा अलग रहता है।

२४.(नवीन वेदान्ती)—इस श्रुति का अर्थ यह नहीं। इसका तात्पर्य्य यह है कि दो प्रकार के जीव प्रकृति में निवास करते हैं। एक बद्ध जीव हैं जो प्रकृति के फलों को भोगते हैं और दूसरे मुक्त जीव हैं जो प्रकृति के फलों से नितान्त अलग रहते हैं।

२४. (सिद्धान्ती)—तुम्हारा यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि श्वेताश्वतर में जहाँ पर यह श्रुति है, उससे पहले एक श्रुति और दी है, जिसमें तीन अज अर्थात् जीवात्मा, परमात्मा और प्रकृति बतलायें हैं। इस श्रुति में उन्हीं जीवात्मा और परमात्मा से तात्पर्य्य है। क्योंकि वहाँ भी दिखलाया है कि एक "अज" अर्थात् अनादि और अजन्मा है जो प्रकृति के भोगों को भोगता है, और दूसरा "अज" प्रकृति के भोगों से अलग रहता है। वहाँ "अज" से तात्पर्य्य जीवात्मा परमात्मा और प्रकृति ही से है। ऐसे ही इस श्रुति में दो पक्षियों से तात्पर्य्य जीव और ब्रह्म से है।

२५. (नवीन वेदान्ती)—दोनों श्रुतियों के दोनों प्रकार के अर्थ सम्भव हैं, फिर बद्ध और मुक्त जीव न मानकर (जिसे बड़े २ पण्डितों ने माना है) बलात् तुम्हारे कहने से जीव और ब्रह्म कैसे मान लें?

२५. (सिद्धान्ती)—मुक्त और बद्ध दो अवस्थायें हैं, जो साधनों से उत्पन्न होती हैं। इनको किसी प्रकार "अज" नहीं कह सकते। यदि कहो जीव अज है इसलिये बद्ध और मुक्त दो प्रकार के अज मान लेगें, तो यह कहना सर्वथा अयुक्त सङ्गत है। क्योंकि अज होने की दशा में समस्त जीव एक अज में आजाते हैं। इनको अलग २ करने वाली बद्ध और मुक्त अवस्था अज नहीं है। अतएव अज मानने की दशा में जीव और ब्रह्म ही मानना पड़ेगा और इस भेद को श्रुति ने भी स्वीकार किया है। जैसा किः—

एकोऽवशी सर्व भूतान्तरात्मा एकं रूपम्बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

कठोपनिषद् वल्ली ५। श्रुति १२।

अर्थ—समस्त संसार में व्यापक प्रत्येक जीवात्मा के कर्म्मों का द्रष्टा और प्रकृति से जगत का रचने वाला और आत्मा के भीतर भी स्थिर रहने वाला परमात्मा है। जो उसको प्रकृति के भीतर व्यापक देखता है, वही मुक्ति सुख को प्राप्त करता है। इस श्रुति में परमात्मा का आत्मा के भीतर व्यापक होना दिखलाया है, जिससे जीवात्मा और परमात्मा में व्याप्य और व्यापक का सम्बन्ध हुआ। और भी श्रुति में लिखा है।

नित्योऽनित्या नाश्चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामाम्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥

कठोपनिषद् वल्ली ५ श्रुति १३।

अर्थ—वह परमात्मा नित्य जीवात्मा और प्रकृति से भी नित्य है और चेतन जीवात्मा से भी चेतन है। एक होकर बहुत लोगों को कर्म्मों का फल देता है अर्थात् अनेक जीवों की इच्छा पूर्ण करता है। उस आत्मा में व्यापक को जो लोग देखते हैं उन्हीं को चिरस्थायी सुख प्राप्त होता है, अन्यों को नहीं।

२६.(प्रश्न)—यदि जीवात्मा भी नित्य है और परमात्मा भी नित्य है और प्रकृति भी नित्य है तो परमात्मा नित्यों में नित्य किस प्रकार कहला सकता है क्योंकि नित्य की उत्पत्ति न हो होने से मुख्य और गौण तो हो नहीं सकते। अतः नित्यों में नित्य कहना ठीक नही।

२६.(उत्तर)—जीवात्मा जन्म मरण और बन्धन तथा मुक्ति की अवस्थाओं से सम्बन्ध रखता है। अतः मूर्ख लोग उसका जन्म भी मान लेते हैं। किन्तु परमात्मा ऐसा नित्य है कि उसमें किसी प्रकार का भी विकार नहीं होता। और प्रकृति जगत की उत्पत्ति के कारण परिणामी अर्थात् परिवर्त्तन शील है। अतएव सदा एक रस रहने वाला परमात्मा इन नित्य रहने वालों और दशा परिवर्तन करने वालों से भी नित्य है। और चेतनों में चेतन कहने से जीव और ब्रह्म का भेद भी स्पष्ट रूप से प्रगट होता है।

२७. (प्रश्न)—जब कि जीव और प्रकृति परिवर्तन शील हैं, तो वह नित्य कैसे कहला सकते हैं? क्योंकि कोई भी परिणामी पदार्थ नित्य नहीं हो सकता। विकार अनित्य में होते हैं, नित्य में नहीं होते।

२७. (उत्तर)—विकार छे प्रकार के होते हैं। (१) उत्पन्न होना सो प्रकृति और जीव उत्पन्न नहीं हुई। (२) बढ़ना सो वे रूप से

बढ़ते भी नहीं (३) एक सीमा पर पहुँच कर वृद्धि क्रम का रुक जाना (४) आकार और रूप में भेद पड़ जाना (५) घटना (६) नाश होना। प्रकृति और जीव में इस प्रकार का कोई भी विकार नहीं होता। न तो प्रकृति का एक परमाणु बढ़ सकता है और न घट सकता है।

२८. (प्रश्न)—उत्पन्न होना आदि विकार हैं, यह बात तो विवादास्पद है। इसका अभाव युक्ति कैसे हो सकता है, क्योंकि जब तक प्रकृति का नित्य होना सिद्ध न हो ले, तब तक उसके विकारों का होना विवादास्पद है। और तुम ऊपर प्रकृति में परिवर्तनों का होना और जीवात्मा में न होना स्वीकार कर चुके हो। अतएव प्रकृति के अपरिणामी और छे विकारों से शून्य होने में कोई युक्ति नहीं।

२८. (उत्तर)—प्रत्येक प्रमेय तीन प्रकार ही का होता है। या तो वह नित्य हो या अनित्य हो अथवा मिथ्या हो। अब यदि प्रकृति को नित्य न माना जाय और उसका अस्तित्व होने से वह मिथ्या भी नहीं है, तो यह विचार आवश्यक है कि अनित्य पदार्थ दूसरे की सहायता के आधीन होता है। उसको प्रत्येक कारण की आवश्यकता होती है, क्योंकि बिना कारण के कोई कार्य्य हो नहीं सकता। अब विचारना यह है कि प्रकृति का कारण क्या है? कतिपय लोग कहेंगे कि प्रकृति का कारण ईश्वर है क्योंकि वही कारणों का कारण है। किन्तु प्रश्न होता है कि कर्ता कौन है? क्योंकि कर्ता के विना कारण से कार्य्य का बनना सम्भव नहीं। यदि कहो ईश्वर ही कर्ता है, तो यह बात हो नहीं सकती। क्योंकि यदि ईश्वर को कारण मान लिया जाय, तो प्रकृति आदि के सारे विकार (तग़ैयुरात) ईश्वर पर भी लागू होंगे क्योंकि कारण ही परिवर्तित होकर

कार्य्य रूप में प्रगट होता है। जब ईश्वर कारण और प्रकृति तथा समस्त संसार कार्य्य है तो ईश्वर में भी विकार (तग़य्युर) पाया जायगा। इससे वह स्वयं नित्य नहीं रहेगा, क्योंकि कभी तो ईश्वर संसार का रूप ग्रहण करता है। कुछ लोग यह कहेंगे कि हम ऐसा नहीं मानते कि परमात्मा ही संसार के रूप में बदल जाता है। परन्तु ऐसा कहने वाले परमात्मा को कारण नहीं ठहरा सकते। हाँ वह कर्ता और निर्माता हो सकता है। अनित्य के कर्ता और कारण का नित्य होना आवश्यक है, क्योंकि जितने पदार्थ अनित्य हैं वह तो सब अनित्य कहने से इस कोटि में आगये। अब इसके कारण का इससे भिन्न अर्थात् नित्य होना आवश्यक है। अतएव प्रकृति को नित्य माने बिना ईश्वर को नित्य स्थिर नहीं कर सकते। ब्रह्म को नित्यों में नित्य कहने का तात्पर्य्य यह है कि वह स्वभाविक कर्ता है। उसका कोई गुण नहीं बदलता। प्रकृति और जीव के भीतर ईश्वर के गुण विद्यमान हैं, परन्तु परमेश्वर में प्रकृति का कोई गुण नहीं और न जीव का कोई गुण उसमें पाया जाता है। अतएव वह नित्यों में नित्य है। और जितने भी जीव चेतन हैं वह अल्पज्ञ होने से नाना पदार्थों का ज्ञान नहीं रखते। इस ज्ञान के अभाव से उन्हें पूर्ण चेतन नहीं कह सकते। किन्तु ईश्वर सर्वज्ञ होने से पूर्ण चेतन है अर्थात् वह प्रत्येक पदार्थ और गुणों का पूरा पूरा ज्ञान रखता है।

२६. (प्रश्न)—परमेश्वर प्रकृति और जीव के निर्माण की विधि जानता है अथवा नहीं?

२६. (उत्तर)—जो पदार्थ नित्य और तत्व स्वरूप (मुफ़रद) हों, उनका निर्माण कैसे हो सकता है। और जिसका अभाव हो उसका अस्तित्व मानना मिथ्या ज्ञान है जो अल्पज्ञ जीव में

तो सम्भव है, किन्तु सर्वज्ञ ईश्वर कभी मिथ्या ज्ञान में नहीं फँसता। अतएव वह प्रकृति और जीव की निर्माण विधि का अभाव जानता है क्योंकि उनकी निर्माण विधि नहीं है।

३०. (प्रश्न)-जो प्रकृति और जीव की निर्माण विधि नहीं जानता वह सर्वज्ञ कैसे हो सकता है।

३०. (उत्तर)-ज्ञान ज्ञेयका होता है। और अशेष ज्ञेयका ज्ञान होने से ईश्वर सर्वज्ञ कहलाता है। जो ज्ञेय है ही नहीं उसका अभाव जानने से ईश्वर की सर्वज्ञता में किस प्रकार दोष आसकता है? यदि किसी के अस्तित्व का उसे ज्ञान न हो, तो उसको "सर्व" से अलग करने के कारण ईश्वर की सर्वज्ञता में दोष आसकता है। परन्तु अवस्तु को अवस्तु जानने से सर्वज्ञता में दोष नहीं आ सकता।

३१. (प्रश्न)—यदि ईश्वर चेतनों में चेतन अर्थात् सर्वज्ञ है, तो क्या वह सारे पदार्थों को एक ही काल में जानता है या भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों में विद्यमान पदार्थों को जानता है?

३१. (उत्तर)—ईश्वर की दृष्टि में यह तीन काल हैं ही नहीं क्योंकि काल का सम्बन्ध कार्य्य के साथ होता है। और जो कार्य्य नहीं, वह काल के बन्धन से बाहर है। अर्थात् अनित्य पदार्थ के लिये तो काल का बन्धन हो सकता है, परन्तु नित्य के लिये त्रिकाल में समान रहने कारण कोई काल लागू नहीं।

३२. (प्रश्न)—अच्छा यदि ईश्वर सर्वज्ञ है तो हम जो कुछ करते हैं, उसे भी ईश्वर जानता है अथवा नहीं? यदि कहो जानता है तो ईश्वरीय ज्ञान सत्य होने से उन कार्य्यों का उसी

प्रकार होना आवश्यक है। फिर हम कर्म करने में स्वतन्त्र कैसे हो सकते हैं ? और जब हम स्वतन्त्र नहीं तो हमें पाप और पुण्य का फल अर्थात् दण्डादि किस प्रकार हो सकता है क्योंकि हमने तो ईश्वर के सत्यज्ञान से विवश होकर ही कर्म किया है ?

३२. (उत्तर)—ईश्वर के सम्बन्ध में इस प्रकार की कुतर्क करना मूर्खता है। क्योंकि जो होकर न रहे वह भूतकाल और जो न होकर होवे, वह भविष्यत् काल कहलाता है। क्या ईश्वर को कोई ज्ञान होकर नहीं रहता अथवा न होकर होता है ? इस लिये ईश्वर का ज्ञान सदा एक रस अखण्डित वर्तमान रहता है। भूत भविष्यत् जीवों के लिये हैं न कि ईश्वर के लिये। हाँ जीवों के कर्म की अपेक्षा से त्रिकालज्ञता ईश्वर में हैं स्वतः नहीं जैसा स्वतन्त्रता से जीव कर्म करता है, वैसा ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है और जैसा ईश्वर जानता है वैसा जीव करता है, अर्थात् भूत, भविष्यत्, और वर्तमान के ज्ञान और कर्मों के फल देने में ईश्वर स्वतन्त्र और जीव किञ्चित् वर्तमान् और कर्म करने में स्वतन्त्र है ईश्वर का अनादि ज्ञान होने से जैसा कर्म का ज्ञान हैं वैसा ही दण्ड देने का भी ज्ञान अनादि है। दोनों ज्ञान उसके सत्य हैं। क्या कर्म ज्ञान सच्चा और दण्ड ज्ञान मिथ्या कभी हो सकता है ? इसलिये इसमें कोई दोष नहीं आता।

और उपरोक्त दोनों श्रुतियों से जीव ब्रह्म का भेद स्पष्ट है।

३३. (प्रश्न)—जीव शरीर के किसी एक स्थान विशेष में रहता है या समस्त शरीर में ?

३३. (उत्तर)—जीवात्मा शब्द से ही उसका समस्त शरीर में रहना पाया जाता है, क्योंकि "आत्मा" शब्द व्यापक के लिये आता है।

३४. (प्रश्न)—यदि आत्मा को एक स्थान विशेष में रहने वाला मानें, क्योंकि वह अणु है, तो न तो नाना होने से वह विभु हो सकता है और न निराकार होने से मध्यम परिमाण वाला होसकता है।

३४. (उत्तर)—यदि आत्मा को अणु माना जाय, तो परमात्मा को भी परिमित मानने में कोई दोष न होगा। जगत में व्यापक होने से वह परमात्मा कहलाता है और शरीर में व्यापक होने से यह जीवात्मा कहलाता है। और जिस श्रुति में श्वेतकेतु को यह दिखलाया गया है कि जीव जब शरीर के एक भाग को त्याग देता है तो वह शुष्क हो जाता; जब दूसरे भाग को छोड़ता है, तब वह भी शुष्क होजाता है; जब तीसरे भाग को छोड़ देता है, तब तीसरे को भी यही दशा होती है; और जब सारे शरीर को छोड़ता है, तब सारा शरीर सूख जाता है। वहाँ यदि जीवात्मा अणु होता, तो वह शरीर के एक स्थान विशेष में रहता। और इस दशा में दूसरे स्थान से उसका सम्बन्ध ही क्या था, जिसे वह छोड़ देता।

३५. (प्रश्न)—बहुत से लोग जीव को अणु मानते हैं। और उपनिषद् में भी लिखा है:—

बालाग्रशत भागस्य शतधा कल्पितस्य च।

श्वेताश्व० अ० ५। ६ इत्यादि

अर्थात् बाल के अग्रभाग के सवें भाग का भी शतांश यदि कल्पित किया जाय, तो भी जीव का स्वरूप समझ में नहीं आसकता है। इस श्रुति से जीव का अणु होना स्पष्ट है।

३५. (उत्तर)—यह श्रुति जीव का अणु होना प्रगट नहीं करती, वरन् उसके सूक्ष्म होने को बतलाती है। अर्थात् जीवात्मा

इतना सूक्ष्म है कि बाल के दश सहस्त्रवें भाग के समान भी उसकी आकृति नहीं है। इसी से वह निराकार है।

३६. (प्रश्न)—यह श्रुति तो जीव के अणु होने का प्रमाण है। तुम्हारा यह उपरोक्त कथन केवल कल्पना मात्र है, क्योंकि यदि जीव को अणु न माना जाय, तो अवश्यमेव सर्वव्यापक मानना पड़ेगा। किन्तु मध्यम परिमाण वाला अर्थात् एक शरीर में रहने वाला तो किसी प्रकार मान नहीं सकते। जहाँ तक विचार किया जा सकता है उससे स्पष्ट पता मिलता है कि एक शरीर के बराबर जीवात्मा मानने से तो उसमें घटना बढ़ना बना रहेगा। जब जीवात्मा हाथी के शरीर में जायगा, तो बड़ा होना पड़ेगा और जब च्यूँटी के शरीर में जायगा, तो सुकुड़ना पड़ेगा। और जो श्रुति तुमने छान्दोग्य की सामने रक्खी है कि जीव शरीर के जिस अङ्ग को त्याग देता है, वह सूख जाता है और जब सारे शरीर को त्याग देता है, तो सारा शरीर सूख जाता है...इत्यादि। इसका तात्पर्य्य यह नहीं है कि जीव किसी अङ्ग से बाहर निकल जाता है, प्रत्युत उसके अभिमान को छोड़ देता है। क्योंकि जीवात्मा को एक शरीर में प्रत्येक स्थान पर विद्यमान मानने से उन श्रुतियों के साथ विरोध आता है जहाँ आत्मा को अणु माना है। इसके अतिरिक्त अणु और सर्व व्यापक मानने से भी उसमें विरोध पड़ता है। अतएव जहाँ श्रुति आत्मा को सर्व व्यापक बतलाती है वहाँ परमात्मा और जहाँ अणु बतलाती है वहाँ जीवात्मा लेने से विरोध मिट जाता है। परन्तु जब समस्त शरीर में मानते हैं, तो विरोध दूर नहीं होता।

३६. (उत्तर)—श्रुति का अर्थ तो जीव को सूक्ष्म ही बतलाता

है क्योंकि जहाँ परमात्मा के लिए अणु शब्द आया है वहाँ उसका तात्पर्य्य भी सूक्ष्म ही है। जैसा इस श्रुति में बतलाया है:—

अणो रणीयान् महतो महीयान्...

इत्यादि ! श्वेताश्व अ० ३० मं० २०।

अर्थात् वह अणुओं से भी अणु है और महान् से भी महान है अब अणु परिमाण मानने से बिना कारण विरोध पड़ जाता है। यहाँ अणु का अर्थ सूक्ष्म है अर्थात् परमात्मा सब अणुओं से भी छोटा अर्थात् सूक्ष्म है। और महान् से भी महान् अर्थात् सर्व व्यापक है। ऐसे ही जीवात्मा को समझना चाहिये कि वह सूक्ष्म और सारे शरीर में व्यापक है। जो लोग जीवात्मा को विभु मानते हैं वे केवल जीवात्मा और परमात्मा को एक सिद्ध करने के लिए ऐसा मानते हैं। परन्तु दुःख सुख की व्यवस्था से जीवात्मा अनेक और ब्रह्म से भिन्न ज्ञात होते हैं। और जीव ब्रह्म के गुणों के प्रभेद से भी ऐसा ही ज्ञात होता है। अब रहा बढ़ना और घटना, सो संयोगज और साकार पदार्थ के लिए तो दोष हो सकता है, किन्तु निराकार के लिए किसी प्रकार का भी दोष उत्पन्न नहीं करता है ; क्योंकि दीपक के प्रकाश को यदि एक लोटे में बन्द कर दिया जाय, तो उसका आकार वैसा ही होगा ; और यदि घड़े में बन्द किया जाय, तो उसका रूप भी वैसा ही होगा ; और यदि कोठरी में हो, तो उसका (प्रकाश का) रूप वैसा होगा। इन तीनों अवस्थाओं में प्रकाश के रहने के स्थानों में भेद हो गया है, प्रकाश ज्यों का त्यों रहा। इसी प्रकार जीवात्मा की भी दशा है, कि वह किसी भी शरीर में रहे, उस में कुछ भी अन्तर नहीं आयेगा और वह उसी शरीर में व्याप्त होकर रहेगा। और यह समझना कि छान्दोग्य की श्रुति में जहाँ

किसी अङ्ग को जीवात्मा से छोड़ दिये जाने पर सूख जाना लिखा है, वहाँ श्रुति का यह अर्थ नहीं कि वह आत्मा शरीर के उस अङ्ग से अलग हो जाता है, परन्तु उसका अभिमान छोड़ देता है, सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि जीवात्मा सुषुप्ति की अवस्था में शरीर का अभिमान छोड़ता है। यदि केवल जीवात्मा के अभिमान छोड़ देने से ही मृत्यु होती अथवा अङ्ग सूख जाते, तो सुषुप्ति का नाम ही मृत्यु हो जाता। दूसरे जीवन मुक्त को भी शरीर का अभिमान नहीं होता, तो उसे भी मृत समझना चाहिये, इसी प्रकार के और भी बहुत से दोष हैं जो इस बात को स्पष्ट करते हैं। इसके अतिरिक्त जब श्रुति ने स्पष्ट शब्दों में यह दिखला दिया कि जीव के अलग हो जाने से यह शरीर मर जाता है जीव नहीं मरता तो इससे जीव का सारे शरीर में व्यापक होना और एक अङ्ग विशेष को छोड़ देने से उसका सूख जाना ही सिद्ध होता है।

३७. (प्रश्न)—यदि जीवात्मा को किसी शरीर के प्रत्येक स्थान में व्यापक माना जाय, तो जिस समय शरीर का एक अङ्ग काटेंगे तो जीव कट जाना चाहिये परन्तु बतलाया यह गया है कि जीवात्मा को शस्त्र काट नहीं सकते। जैसा कि महात्मा कृष्ण ने गीता में लिखा है :—

> नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
> न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥

श्रीमद्भगवद्गीता अ० २ श्लो० २३।

अर्थात् इस जीव को न तो शस्त्र काट सकते हैं; न आग जला सकती है, और नहीं उसे पानी गला सकता है और न वायु सुखा सकता है। इस प्रकार जीवात्मा का घटना सम्भव

नहीं। अतः या तो जीवात्मा को सर्वव्यापक मानना चाहिये (जैसे सर्वव्यापक आकाश किसी भाँति घट नहीं सकता) या अणु मानना चाहिये। नहीं तो जीवात्मा कट अवश्य जायगा।

३७. (उत्तर)—यह शङ्का भी ठीक नहीं कि शरीर के किसी अङ्ग विशेष के कटने से जीवात्मा भी कट जायगा। क्योंकि जिस घर में प्रकाश होता है, यदि उसमें कोई परदा डाल दिया जाय तो वह प्रकाश उससे कट नहीं जायगा, किन्तु इस प्रकार हट आयेगा। ऐसे ही जीवात्मा कटता नहीं, प्रत्युत इस प्रकार हट आता है।

३८. (प्रश्न)--प्रकाश गुण है और जीवात्मा द्रव्य है। गुण अपने गुणी को त्याग कर अलग नहीं रह सकता। अतः प्रकाश परदा के उस ओर नहीं आता, वरन् अपने गुणी की ओर हट आता है। परन्तु जीवात्मा तो किसी का भी गुण नहीं, वह कैसे हट आयेगा?

३८. (उत्तर)--प्रकाश निराकार है और जीव भी निराकार है। जिस प्रकार निराकार आकाश प्रकाशादि कटते और घटते नहीं, इसी प्रकार जीवात्मा भी कटता और घटता नहीं। जिस प्रकार प्रकाश अपने गुणी दीपक की ओर चला आता है, ऐसे ही जीवात्मा अपने रहने के स्थान शरीर की ओर हट आता है। जैसे दीपक और प्रकाश में गुण और गुणी का सम्बन्ध है, ऐसे ही जीवात्मा और शरीर में व्याप्य व्यापक का सम्बन्ध है। अथवा कर्म्म सम्बन्ध से आधार और आधेय की व्याप्ति है। जिसप्रकार गुण का आधार गुणी है, उसी प्रकार व्यापक का आधार व्याप्य है।

३१. (प्रश्न)–जीव ब्रह्म का भेद मानना ठीक नहीं, क्योंकि एक शरीर में दो चेतन नहीं रह सकते। परमात्मा के सर्वव्यापक होने से वह प्रत्येक शरीर में अवश्य ही विद्यमान होगा। और यदि जीवात्मा भी व्यापक माना जावे, तो दोनों में क्या सम्बन्ध होगा?

३१ (उत्तर)–जीवात्मा और परमात्मा दोनों प्रत्येक शरीर में रहते हैं और उनमें व्याप्य व्यापक का सम्बन्ध है अर्थात् परमात्मा जीवात्मा के भीतर बाहर सब ओर विद्यमान है। यद्यपि जीवात्मा सूक्ष्म है किन्तु वह प्रकृति की अपेक्षा से, नहीं तो परमात्मा की अपेक्षा वह स्थूल है अतः स्थूल के भीतर सूक्ष्म रह सकता है। ऐसे ही जीवात्मा के भीतर परमात्मा रहते हैं। और यही कारण है कि जब जीवात्मा बाह्य विषयों से विरक्त होकर भीतर की ओर ध्यान करता है, तो उसे आनन्द प्राप्त होता है। समाधि और सुषुप्ति की अवस्था इस बात की साक्षी है यदि जीवात्मा के भीतर परमात्मा न होता, तो सुषुप्ति अवस्था में दुख को विनाश करने वाला कौन होता। क्योंकि यह तो सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि कारण के अभाव में कोई कार्य्य हो नहीं सकता और नहीं विरुद्ध शक्ति बिना किसी का नाश हो सकता है। अब दिन भर के कष्ट से जो जीवात्मा का मन चञ्चल और शरीर पीड़ित होता है, उसके दूर करने का क्या कारण होगा? इसलिये दुख का विरोधी आनन्द है। जब तक आनन्द न आवे, दुख दूर ही नहीं होसकता। और आनन्द परमात्मा का गुण है, वह परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य से प्राप्त नहीं होता। अतएव जब जीव बाह्य सम्बन्धों और झगड़ों को छोड़ कर अन्तरात्मा में लीन होता है, तब परमात्मा के गुण आनन्द के प्राप्त होने से उसके समस्त दुख दूर होजाते

है। और जब तक वह परमात्मा की ओर नहीं लगता तब तक दुख बढ़ता ही जाता है।

४० (प्रश्न)—दो निराकार पदार्थों में स्थूल और सूक्ष्म की निस्बत कैसे स्थिर हो सकती हैं ? यह निबस्त तो संयोग से बने हुये पदर्थों में होती है। जबकि जीवात्मा सूक्ष्म है तो उसकी भीतर और बाहर दो सीमायें हो नहीं सकतीं। और जिसमें इस प्रकार की सीमायें होंगी वह संयोगज होगा। जिसका भीतर और बाहर ही न हो उनमें कोई किस प्रकार रह सकता है ?

४०. (उत्तर)—वायु और आकाश दोनों ही निराकार हैं। किन्तु वायु की अपेक्षा आकाश सूक्ष्म है और वह सर्वव्यापक है इसी प्रकार जीवात्मा की अपेक्षा परमात्मा सूक्ष्म है। जिस प्रकार वायु किसी अवस्था में भी आकाश से भिन्न नहीं हो सकता इसी प्रकार जीवात्मा किसी विधि परमात्मा से भिन्न नहीं हो सकता जिस प्रकार वायु और आकाश दो भिन्न २ पदार्थ हैं उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा भी भिन्न २ हैं। परमात्मा आनन्दस्वरूप है किन्तु जीवात्मा आनन्द से शून्य है और उसी आनन्द को कामना होती है।

४१. (प्रश्न)—जीवात्मा भी आनन्द स्वरूप है किन्तु अविद्या से भूल कर अपने को आनन्द स्वरूप नहीं जानता।

४१. (उत्तर)—जीवात्मा सत् चित स्वरूप है आनन्द स्वरूप नहीं। यदि आनन्द स्वरूप होता तो उसे आनन्द की इच्छा ही न होती। क्योंकि इच्छा अप्राप्त और इष्ट पदार्थ की होती है। यदि जीव को आनन्द प्राप्त होता या वह उसके लिये लाभदायक

न होता तो उसकी इच्छाही न होती परन्तु जीवात्मा को आनन्द प्राप्त नहीं है इसी लिये उसकी इच्छा होती है।

४२. (प्रश्न)—जो वस्तु अप्राप्त हो उसका ज्ञान नहीं होता। और जिसका ज्ञान न हो उसकी इच्छा नहीं होती। क्योंकि किसी वस्तु को सुख का साधन समझकर उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न का नाम इच्छा है। अतः आनन्द की इच्छा का होना ही बतलाता है कि जीव को आनन्द प्राप्त है, और ज्ञान के न होने से इच्छा करता है। जैसे कस्तूरी मृग अपने पेट में कस्तूरी की सुगन्ध को न पहचान कर उसकी इच्छा में दौड़ता २ मर जाता है। इसी प्रकार जीवात्मा भी आनन्द की इच्छा करता है। परन्तु वास्तव में आनन्द उसके स्वरूप में ही है।

४२. (उत्तर)—जो जिसका स्वरूप हो वह उसे किसी दशा में भी अपने से भिन्न नहीं प्रतीत होता, किन्तु बाह्यपदार्थ जो किसी कारण विशेष से प्राप्त होता है, वह उस कारण के अलग हो जाने से अलग हो जाता है। यदि वह जीव के लिये सुख देने वाला होता है तो उसकी पुनः प्राप्ति की इच्छा होती है। यदि दुख देने वाला होता है, तो उससे घृणा होती है। अतः स्वरूप से भिन्न पदार्थ में ही इच्छा हो सकती है। स्वरूप की इच्छा नहीं हो सकती, क्योंकि वह हर समय प्राप्त है।

४३. (प्रश्न)—जैसे किसीआरोग्य मनुष्य को कोई रोग हो जाय, तो वह प्रत्येक समय आरोग्यता की इच्छा करता है। अब यह आरोग्यता कोई बाह्यपदार्थ नहीं, प्रत्युत मनुष्य का स्वाभाविक गुण है, जिसे रोग ने दबा लिया है। और जब औषधि के कारण रोग दूर हो जायगा, तो उसका स्वाभाविक गुण फिर प्रगट हो

जायगा। ऐसे ही जीव आनन्द स्वरूप है। मिथ्या ज्ञान के होने से आनन्द से अलग हो जाता है अर्थात् वह आनन्द का ज्ञान दब जाता है। जब तत्व ज्ञान से मिथ्या ज्ञान का नाश हो जाता है, तो फिर वही आनन्द स्वरूप हो जाता है।

४३. (उत्तर)—आरोग्यता जीवात्मा और शरीर के सम्बन्ध पश्चात् होती है अर्थात् जब शरीर में जीव आता है, तब ही आरोग्यता प्राप्त होती है। अतएव वह जीव का स्वाभाविक गुण नहीं। जिस समय जीव को शरीर ठीक मिलता है, तो उससे वह अपनी अभीष्ट सिद्धि की ओर चलने का प्रयत्न करता है। यदि शरीर में कोई दोष आजाता है तो उसके कामों में रुकावट होती है। पहले शारीरिक आरोग्यता का जीवात्मा ने अनुभव किया है इसीलिये उसकी इच्छा होती है। परन्तु शारीरिक आरोग्यता भी जीव को शरीर के कारण ही प्राप्त हुई, और यही कारण है कि उसकी इच्छा होती है।

४४. (प्रश्न)—यदि परमात्मा को जीवात्मा के भीतर व्यापक माना जाय तो आनन्द भी परमात्मा का गुण होने से जीवात्मा में सदा रहेगा। और जो वस्तु सदा रहे, वह उसका स्वाभाविक गुण होती है। अतः आनन्द जीव का भी स्वाभाविक गुण है।

४४. (उत्तर)—जब जीव परमात्मा के साथ सम्बन्ध उत्पन्न करता है उस समय उसे आनन्दप्राप्त होता है और जब परमात्मा से अलग हो जाता है, तब उसे दुख होता है। जिस प्रकार एक कीट के मुख में चावल हो और वह मिश्री के डले पर बैठा हो तो उसे मिश्री का आनन्द नहीं आयेगा। क्योंकि रस स्वादन करने की इन्द्रिय अर्थात् रसना का सम्बन्ध चावल से है। और जिस आनन्द का सम्बन्ध मिश्री से है उसे गृहण करने की शक्ति नहीं।

४५. (प्रश्न)—जीवात्मा और परमात्मा का व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध तुम नित्य मानते हो, अतएव उनका सम्बन्ध बना रहता है। जब सम्बन्ध सदा रहेगा तो उसका आनन्द सदा मिलना चाहिये। और जीवात्मा का जब नित्य सम्बन्ध है तो उसका निकट होना और दूर होना कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव है। जब कि जीवात्मा और परमात्मा का सम्बन्ध व्याप्य व्यापक का है, तो परमात्मा के गुण आनन्द का जीव में सदा रहना सिद्धि है।

४५. (उत्तर)—चेतन का सम्बन्ध जब तक ज्ञान से न हो तब तक वह सम्बन्ध नहीं कहलाता। जैसे सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा इस शरीर में रहता है, परन्तु वह उसके दुख सुख का अनुभव नहीं करता। यद्यपि जीवात्मा और परमात्मा में देश और काल का अन्तर नहीं, अर्थात् जब से परमात्मा है तब से जीवात्मा है, दोनों में से कोई नवीन उत्पन्न नहीं प्रत्युत दोनों अनादि हैं। और जिस देश में जीवात्मा रहता है उसी में परमात्मा भी रहता है। अतएव देश का भी भेद नहीं, परन्तु जीवात्मा की अल्पज्ञता के कारण ब्रह्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। और ज्ञान के न होने से जीव ब्रह्म के आनन्द का अनुभव नहीं करता और जब ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है, तब उसका आनन्द भी अनुभव में आता है।

४६. (प्रश्न)—चेतन जीवात्मा किसी काल में भी अपने गुण अर्थात् ज्ञान से भिन्न नहीं हो सकता है। अतः उसको प्रत्येक समय में ब्रह्म ज्ञान होना चाहिये। यदि कहो जीव और ब्रह्म के मध्य किसी प्रकार का आवरण है तो यह सम्भव नहीं क्योंकि ऐसी दशा में ब्रह्म सर्वव्यापक नहीं हो सकता।

४६. (उत्तर)—जीवात्मा चेतन है परन्तु सर्वज्ञ नहीं है। अतः यह आवश्यक नहीं कि उसे सब पदार्थों का ज्ञान रहे। और जो यह लिखा है कि जीवात्मा के भीतर जब परमात्मा रहता है तो वह उसे कैसे नहीं जानता, इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार नेत्र में सुरमा होता है। और नेत्र उसे नहीं देख सकता। जो नेत्र सारी वस्तुओं को देखता है, वह अपने समीपवर्ती सुरमा को, जिससे नेत्रों की कुछ भी दूरी नहीं, नहीं देख सकता। नेत्र और सुरमा के बीच कोई आवरण भी नहीं होता। प्रत्युत यह विचार कि जब तक जीव और ब्रह्म के बीच कोई आवरण न मान लिया जाय, तब तक जीव को ब्रह्म का ज्ञान प्रत्येक काल में होना चाहिये, ठीक नहीं। क्योंकि वर्तमान पदार्थों का ज्ञान न होने के कारण छे होते हैं, केवलआवरण का होना ही उसका कारण नहीं।

४७. (प्रश्न)—वह छे कौन से कारण हैं जिनके कारण वर्तमान वस्तु का ज्ञान नहीं होता और जीव ब्रह्म के बीच उनमें से कौन सा कारण है।

४७. (उत्तर)—(१) जो वस्तु नेत्र के अत्यन्त सन्निकट हो, वह दिखाई नहीं पड़ती। जैसे नेत्र में लगा हुआ सुरमा। (२) वह वस्तु जो अत्यन्त दूर हो, देख नहीं पड़ती। जैसे यहाँ से लाहौर की वर्तमान वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता। (३) जो वस्तु अत्यन्त सूक्ष्म हो, वह भी दृष्टिगोचर नहीं होती। जैसे परमाणु। (४) वह वस्तु जो बहुत बड़ी हो पूरी २ देखी नहीं जासकती। जैसे हिमालय पर्वत (५) उस वस्तु और नेत्र के बीच कोई आवरण हो। (६) जब इन्द्रिय अर्थात् नेत्र में कोई दोष आजाता है, तो उस समय विद्यमान वस्तु का भी ज्ञान नहीं होता।

ब्रह्म जीवात्मा के अत्यन्त निकट है अर्थात् उसके भीतर बाहर प्रत्येक स्थान पर विद्यमान है। अतएव उसे जीव नहीं देख सकता।

४८. (प्रश्न)—यदि अत्यन्त निकट होने से जीवात्मा ब्रह्म को नहीं देख सकता, तो किसी दशा में भी ब्रह्मज्ञान न होगा। और ब्रह्मज्ञान के अभाव में कदापि आनन्द प्राप्त ही न होगा। तो जीव को आनन्द की इच्छा करना व्यर्थ है, क्योंकि उसकी प्राप्ति असम्भव है।

४८. (उत्तर)—जैसे नेत्र अपने अत्यन्त निकट वर्ती सुरमा को नहीं देख सकता, किन्तु उसके देखने का एक उपाय है, अर्थात् दर्पण में नेत्र अपने स्वरूप को देखता है तब उसे सुरमा भी देख पड़ता है। इसी प्रकार जब शुद्ध मन के दर्पण में जीवात्मा अपने स्वरूप अर्थात् सत् चित् को देखता है तो उसे सच्चिदानन्द परमात्मा का भी ज्ञान होता है, जिससे आनन्द की प्राप्ति होती है। यदि नेत्र अपना स्वरूप दर्शनार्थ दर्पण का प्रयोग न करे, तो उसे अपने निकट वर्ती सुरमा का ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार यदि जीव अपने स्वरूप को न जाने तो परमात्मा को भी नहीं जान सकता और न उसे आनन्द ही प्राप्त होता है।

४९. (प्रश्न)—नेत्र और सुरमा दो साकार पदार्थ हैं। अतः उनका प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़ता है और वह दिखाई पड़ते हैं। परन्तु जीव और ब्रह्म तो निराकार हैं उनके गुणों का प्रतिबिम्ब किसी प्रकार नहीं पड़ सकता। जब उनका प्रतिबिम्ब न हुआ, तो दिखाई भी न देंगे।

४६.(उत्तर)—वायु और उष्णता दोनों निराकार हैं। उनका प्रतिविम्ब त्वचा पर पड़ता है, जिससे उनकी उष्णता आदि का बोध होता है। प्रतिविम्ब पड़ने के लिये साकार निराकार की विशेष आवश्यकता नहीं, वरन सान्त और परिमाण होने से पदार्थ अनुभव किये जाने योग्य होता है।

५०. (प्रश्न)—प्रतिविम्ब का यह अर्थ तुम ने कहाँ से लिया क्योंकि उष्ण और शीत वायु का त्वचा से स्पर्श होता है प्रतिविम्ब नहीं पड़ता। प्रतिविम्ब का पड़ना तो यह है कि पदार्थ अपने स्थान पर स्थिर रहे और उसका प्रतिविम्ब दूसरे पदार्थ में प्रतीत हो। यदि पदार्थ स्वयं चल कर उससे स्पर्श करे और उसका प्रभाव प्रतीत हो तो उसे प्रतिविम्ब नहीं कहेंगे, क्योंकि वहाँ पदार्थ स्वयं चला गया।

५०.(उत्तर)—प्रतिविम्ब का अर्थ यह है कि किसी अन्य पदार्थ में उसके गुणों का प्रगट होना अथवा पाया जाना। जैसे दर्पण में मनुष्य की आकृति विद्यमान न थी, जब मनुष्य दर्पण के निकट गया, तो उसमें उसकी आकृति दिखाई पड़ी। अब प्रश्न यह है कि क्या वह आकृति मनुष्य के शरीर से उठ कर दर्पण में प्रवेश कर गई? या यदि कहो कि दर्पण में उत्पन्न हुई तो मनुष्य के शरीर प्रकाश के विना भी उत्पन्न हो सकती है। किन्तु जहाँ प्रकाश न हो वहाँ प्रतिविम्ब प्रतीत नहीं होता। अतः ज्ञात हुआ कि सूर्य्य की किरणें उस आकृति को दर्पण में लेजाती हैं और उसी से प्रतिविम्ब प्रतीत होता है।

५१. (प्रश्न)—सूर्य्य की किरणें प्रत्येक वस्तु पर पड़ती है। अतः प्रत्येक वस्तु में प्रतिविम्ब देख पड़ना चाहिये। किन्तु ऐसा

नहीं है, प्रत्युत प्रतिबिम्ब केवल स्वच्छ दर्पण या जल में देख पड़ता है इससे ज्ञात होता है कि प्रतिबिम्ब स्वच्छ वस्तु में भीतर ही देख पड़ता है। और अन्धकार में प्रतिबिम्ब इस लिये दिखाई नहीं पड़ता कि उस समय नेत्र देख नहीं सकते। और यह पहले ही कहा गया है कि इन्द्रिय दोष से वर्तमान पदार्थ भी दृष्टिगोचर नहीं होते।

५१.(उत्तर)—यदि यह मान लिया जाय कि अन्धकार में नेत्र की असमर्थता के कारण प्रतिबिम्ब देख नहीं पड़ता, तो दर्पणादि स्वच्छ पदार्थों के अतिरिक्त अन्य पदार्थों में भी प्रतिबिम्ब पड़ता है, किन्तु उन पदार्थों के मलिन होने से नेत्र उसे देखने में असमर्थ हैं। क्योंकि प्रतिबिम्ब और नेत्र के बीच आवरण है अतः जैसा तुम्हारे लिये अन्धकार में दिखाई न देने का कारण है उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ में दिखाई न देने का कारण है।

५२.(प्रश्न)—क्या जीवात्मा को परमात्मा का ज्ञान मन के कारण होता है ? यदि मन के बिना नहीं होता तो मन के अभाव में मुक्ति का आनन्द न रहेगा। परन्तु मन अन्न से बनता है और नाशमान है अतएव शरीर के साथ ही जीव के कर्म सम्बन्ध के विनाश से मन का भी विनाश हो जायगा। और मन के विनाश से मुक्ति में आनन्द न मिलेगा।

५२.(उत्तर)—जीवात्मा को परमात्मा के ज्ञान के लिये मन की आवश्यकता है, परन्तु एक बार ज्ञान हो जाने से त्रिकाल पर्यन्त मन के अभाव में भी वह ज्ञान स्थिर रहता है। जैसे नेत्र द्वारा देखे बिना रूप का ज्ञान नहीं होता है किन्तु नेत्र के बन्द

होने पर भी वह ज्ञान चिरकाल तक रहता है इसी प्रकार मन के कारण जीवात्मा को आनन्द स्वरूप परमात्मा का ज्ञान होता है और उसी से आनन्द भी मिलता है।

५३.(प्रश्न)—यदि ज्ञान का होना मन ही पर निर्भर रक्खा जावे, तो मन सब मनुष्यों को प्राप्त है। अतः सब को परमात्मा का ज्ञान और मुक्ति का आनन्द प्राप्त होना चाहिये। किन्तु सब को आनन्द प्राप्ति की दशा में उसकी इच्छा नहीं रहनी चाहिये। और न सब को आनन्द प्रतीत ही होता है।

५३.(उत्तर)—स्वच्छ दर्पण में नेत्रस्थ सूक्ष्म सुरमे का प्रति विम्ब प्रतीत होता है, किन्तु मलिन दर्पण में उसका प्रतिविम्ब नहीं प्रतीत होता है। इसी भाँति जिनका मन शुद्ध है, उन्हीं को परमात्मा का ज्ञान हो सकता है, और जिनका मन कुवासनाओं के कारण प्रत्येक काल में मलिन रहता है उनको आत्मज्ञान नहीं होता। और जिसको आत्मज्ञान न हो उसे परमात्मा का ज्ञान और आनन्द कैसे मिल सकता है ?

५४.(प्रश्न)—बहुत से लोग हैं जिनको किसी काल में भी कुवासनायें नहीं होतीं। वह रात दिन यज्ञ, हवन, जप, तप, और परोपकारादि कर्म्मों में रत रहते हैं। किन्तु उन्हें भी ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मानन्द प्राप्त नहीं होता। इससे निश्चय होता है कि जब तक स्वयं अपने आप को ब्रह्म न जानले, तब तक उसे ब्रह्म का यथार्थ आनन्द नहीं मिलेगा।

५४.(उत्तर)—जो लोग शुभ कर्म्मरत हैं यद्यपि वह अशुभ वासना वाले पुरुषों से लाख दर्जे अच्छे हैं, किन्तु ब्रह्मज्ञान का अधिकार

उनको भी नहीं है। क्योंकि यदि दर्पण शुद्ध भी हो, तो भी उसके सवेग सञ्चालन से उस में प्रतिबिम्ब स्पष्टतया प्रतीत नहीं होता। अतएव उनके मन का सदैव एषणाओं में लिप्त रहने के कारण उनको ब्रह्मानन्द नहीं प्राप्त होता।

५५. (प्रश्न)—बहुत से ऐसे पुरुष हैं कि न तो वे सत्कर्म की इच्छा करते हैं और न कुकर्म्म ही करते हैं। किन्तु उन्हें भी ब्रह्मानन्द प्राप्त नहीं होता।

५५. (उत्तर)—ऐसे पुरुष संसार में इने गिने ही होंगे। किन्तु उन पर भी अविद्या का आवरण होता है। यदि नेत्र और दर्पण के मध्य कोई आवरण हो तो भी उस में प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं पड़ता। अतएव जो लोग जीव तथा शरीर के स्वरूप से अनभिज्ञ हैं और जीवात्मा को शरीर से भिन्न नहीं देख सकते, उनको भी ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।

५६. (प्रश्न)—जब कि मन की विद्यमानता में भी उपरोक्त कारणों से ज्ञान और आनन्द प्राप्त नहीं होता, तो कौन से कारण हैं, जिन से यह समझ लिया जाय कि जीवात्मा का स्वरूप आनन्द से भिन्न है और आनन्द उसको नैमितिक प्राप्त होता है।

५६. (उत्तर)—आनन्द का सदैव न होना ही इसका कारण है। क्योंकि जो जिसका स्वभाव होता है वह उस से किसी अवस्था में भी भिन्न नहीं हो सकता। यदि कोई कहे कि उसका तिरोभाव होगया अर्थात् वह किसी आवरण से आच्छादित हो गया है और जब आविर्भाव होता है अर्थात् आवरण दूर होता

है, तब उसका पुनः विकाश होता है, और जब तिरोभाव होता है, तब प्रतीत नहीं होता। यह कहना उचित नहीं, क्योंकि दो पदार्थों के मध्य तो आवरण आ सकता है, किन्तु गुण और गुणी अर्थात् एक ही पदार्थ में गुण और गुणी के मध्य किसी प्रकार आवरण आ ही नहीं सकता। जब कि किसी पदार्थ और उसके गुण के मध्य आवरण का आना असम्भव है, तो जीव का गुण आनन्द मान कर उसी का तिरोभाव जीव के ज्ञान से बतलाना नितान्त मूर्खता है।

५७.(प्रश्न)—हम देखते हैं, बहुत से लोग अपने रोग का ज्ञान नहीं रखते, तो क्या रोग उनका स्वभाव नहीं?

५७. (उत्तर)—रोग कहकर उसको जीव का स्वभाव बतलाना सर्वथा भूल है, क्योंकि स्वभाव वह है जो सदा से हो और सदा रहे, और जिसके नाश से पदार्थ का भी नाश होसके। किन्तु रोग को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। न तो रोग सदा से है और न ही उसके नाश से जीव नष्ट होता है। अतएव वह जीव का स्वभाव नहीं। तो उसका ज्ञान न होना दूसरी बात है।

५८. (प्रश्न)—यदि जीव ब्रह्म का भेद है, तो शङ्कराचार्य्य ने जो जीव ब्रह्म का अभेद माना है, क्या वह ठीक नहीं?

५८ (उत्तर)—साधारणतया वेदान्त के आचार्य्य लोग तो छे अनादि मानते हैं और शङ्कराचार्य्य भी इससे सहमत हैं। जहाँ उन्होंने जीव ब्रह्म का अभेद बतलाया है वहाँ उनका यह तात्पर्य्य नहीं कि जीव ही ब्रह्म है, प्रत्युत जीव के भीतर बाहर

ब्रह्म की व्यापकता होने से जीव से भिन्न किसी अन्य स्थान पर ब्रह्म नहीं है अर्थात् जीव और ब्रह्म में देश काल का भेद नहीं है। यह तात्पर्य्य है।

५६. (प्रश्न)—जहाँ वेदान्त के आचार्य्यों ने षट् अनादि माने हैं, वहाँ अनादि और अनन्त तो एक ही ब्रह्म को माना है। ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरा अनन्त नहीं। तो जब सब पदार्थ ब्रह्म में लय होजाते हैं, तो जीव भी नाश होकर ब्रह्म में लय होसकता है। यह सब कहना तो व्यवहारिक दशा में समझाने के लिये है।

५६. (उत्तर)—कोई भी अनादि पदार्थ नाशमान नहीं होसकता। वरन् तात्पर्य्य यह है कि जीव और प्रकृति सीमान्त हैं, क्योंकि वह ब्रह्म के अन्तर्गत हैं। और जीव नाना अर्थात् बहुत हैं जिससे उनका सीमान्त होना माना जाता है। यहाँ सीमान्त से तात्पर्य्य यह नहीं कि उसका नाश होता है, प्रत्युत सीमान्त से तात्पर्य्य परिमित और अनन्त से तात्पर्य्य अपरिमित है। जीव अब भी ब्रह्म के अन्तर्गत नष्ट होकर ब्रह्म में किस प्रकार लय होगा? क्योंकि एक सीमा (किनारा) वाला पदार्थ नहीं होता, इसके लिये संसार में कोई भी दृष्टान्त नहीं।

इत्यलम्

(नवीन व प्राचीन वेदान्त का प्रथम भाग समाप्त हुआ)